निबन्ध-रत्नमाला

उपदेश-रत्नमाला

सौभाग्य-रत्नमाला

न्यारी शिक्षा-रत्न की
नवल निराली माल
प्यारी बहिनो प्रेम से
लो स्वकण्ठ में डाल

लेखिका—
चन्दाबाई

निबन्ध-रत्नमाला



लेखिका

—पण्डिता श्री चन्दाबाई

कन्या-विद्यावलम्बिनी पुस्तक-माला का तृतीय पुष्प ।

The Indian Girl's Own Library No. 3.

मूल्य आठ आना ।

समर्पण।

卐

स्वार्थरहित हो निश दिन जो
परहित में तत्पर रहते हैं,
ज्ञान-सुधा-रस से अभिसिञ्चित
सब जीवों को करते हैं।

卐

जिनके पद-प्रसाद से मैंने
पाया जग में उजियाला,
जिनकी विमल-विराग प्रभा से
हटा अविद्या-तम काला।

卐

बाल-ब्रह्मचारी विद्वद्वर
स्वामी **श्री नेमी सागर,**
उनके कर-कमलों में है यह
अर्पित भक्ति भेंट सादर।

—चन्दा

रत्न-सूची।

प्रकाशक का सन्देश

न्यारी शिक्षा-रत्न की नवल निराली माल
प्यारी बहिनो प्रेम से लो स्वकण्ठ में डाल

—वनलता

परम सन्तोष और हर्ष के साथ '**कन्या-विद्यावलम्बिनी पुस्तक-माला**' का यह तृतीय पुष्प स्त्री-शिक्षा-प्रेमियों और विद्यानुरागिणी माता-बहनों के साहित्य-संसार में प्रेषित करता हूँ। विश्वास है कि माला के प्रथम (**उपदेश-रत्न-माला**) और द्वितीय (**सौभाग्य-रत्न-माला**) पुष्पों ने जिस प्रकार अपने पवित्र और दिव्य सौरभ से साहित्य-क्षेत्र को आमोदित किया है उसी प्रकार यह नवीन पुष्प भी साहित्य-वाटिका की शोभा-वृद्धि करेगा। महिला-मण्डली में पूजनीया माताजी के पुष्ट विचारों ने बड़ी सुरुचि और सद्भाव पैदा कर रक्खा है। हमें पूर्ण भरोसा है कि यह पुस्तक वस्तुतः नारी-समाज का यथेष्ट हित साधन करेगी। आशा है, वे यह **उपहार** स्त्री-संसार में वास्तविक ज्ञान और आनन्द की वृद्धि करके हमारा मन्तव्य सिद्ध करेगा तभी इस **रत्नत्रय** का प्रेमोपहार भगिनियों और माताओं की भेंट करके हम कृतकृत्य होंगे। पुस्तक के अन्त में महात्मा गाँधीजी का विधवा बहनों के विषय में एक लेख उनके '**नवजीवन**' नामक पत्र से तथा अपने प्रिय मित्र गिरीशजी कृत '**रसाल-वन**' से एक कविता '**अशिक्षा की फलस्वरूपिणी झगड़ालू सास**' उद्धृत की जाती है। आशा है प्रिय बहनें इन दोनों से भी लाभ उठावेंगी।

प्रेममन्दिर
आरा
२०-६-२०

विनयावनत—

देवेन्द्र

भूमिका।

माननीय वाचकवृन्द !

यह पुस्तक उन निबन्धों का संग्रह है जो कि भिन्न भिन्न सामयिक जैन, अजैन पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। कई मित्रात्माओं के अनुरोध से तथा स्त्री-समाज में ऐसी पुस्तकों की कमी देखकर ही इनका संग्रह किया गया है।

ये प्रत्येक लेख यद्यपि अपने अपने विषय में स्वतन्त्र हैं तो भी 'स्त्रियों में सद्विद्योन्नति हो' सबों का यही अन्तिम परिणाम निकलता है।

इस पुस्तक के पढ़ने से छात्राओं को निबन्धों की रचना करने में तथा व्याख्यानशैली के जानने में भी सुबिधा होगी ऐसी आशा की जाती है। इसमें स्वदेश-सेवादि कई लेख ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी खास धर्म से नहीं है बल्कि समस्त जनता के हितार्थ लिखे गये हैं।

कई लेख आत्म-पदार्थादि ऐसे भी हैं जो धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं। तो भी पुस्तक को अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को चाहे वह किसी मत का क्यों न हो कुछ न कुछ अदूष्येय पदार्थ अवश्य मिल जायगा।

साहित्य-संसार में नाना प्रकार के अगणित पुष्प खिल रहे हैं और उनका सौरभ भी विविध प्रकार का ही अनुभूत होता है।

जिस प्रकार अलङ्कार-शास्त्र रसास्वाद कराता है तथा पद्यावली हृदय में तरङ्ग उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार नैतिक शास्त्र मनुष्य में नीति उत्पन्न कर देता है।

इस माला के नैतिक निबन्धों से भी हमारी बहिनों को अवश्य कर्त्तव्य-ज्ञान की शिक्षा मिलेगी, एवं उच्चादर्श हृदय में स्थान पाएगा।

इन लेखों की भाषा एवं भाव में बहुतसा अन्तर प्रतीत होगा, बहुत सम्भव है कि एक बात एवं एक भाव कई बार कई तरह से कहा गया हो और सब लेखों का सम्बन्ध भी नियमबद्ध न हो क्योंकि यह लेख भिन्न भिन्न समयों में लिखे गये हैं, इनमें कोई कोई बहुत पुराने भी हैं। समय के साथ साथ मनुष्य की भाषा और विज्ञान में हेर फेर होना स्वाभाविक नियम है, अतएव सज्जन पाठक एवं पाठिकावृन्द इन त्रुटियों को क्षमा करेंगी। तथा पुस्तक को अपनाकर मुझे उत्साहित करेंगी।

शुभचिन्तिका

चन्दा बाई जैन



मानव-हृदय ।

स्वभाव से ही मानव-हृदय कोमल और सरस विचारों का केन्द्र होता है । यदि इसको स्वविचारों के आश्रय पर छोड़ दिया जाय तो यह बुराइयों को करने की प्रेरणा कदापि न करे । कोई कैसा ही पापी क्यों न हो, कितने ही बुरे कर्मों को क्यों न करता हो, परन्तु यदि एकान्त में वह अपने दिल को आराम देकर पूछे तो घृणित वस्तु की ओर से घृणा ही उत्पन्न होगी । जितने समय तक कुसङ्गति का प्रभाव रहता है उतने ही समय तक हृदय भी घृणित विषय की ओर प्रेरणा करता है । तभी तक अमानुषिकता का व्यवहार होने देता है । परन्तु यदि इसको सर्व अपवित्र वस्तुओं के संसर्ग से दूर रक्खा जाय तो प्रकृति के अनुकूल सत्कार्यों का ही उपदेश देगा ।

जिस तरह कपड़े में मैल लग जाता है अथवा जिस तरह घर-द्वार मैले कुचैले हो जाते हैं उसी तरह मानव-हृदय भी सांसारिक वासनाओं से लिप्त होते होते मैला हो जाता है, इसी से वह स्वकार्य्य करने में असमर्थ होकर एक धीमी चाल से सांसारिक विषय-भोगों में ही अपनी विचारशक्ति को शेष करता रहता है। जिस प्रकार वस्त्रादि के शुद्ध करने की या घर-द्वार के उज्ज्वल करने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार हृदय-दर्पण को भी समय समय पर साफ़ करने की आवश्यकता है।

सब वस्तुओं के शुद्ध करने की विधि पृथक् पृथक् है, उसी तरह मन के स्वच्छ करने की रीति भी निराली है।

मन से असमय पर काम न लेकर स्वच्छ विचारों में उसे स्वच्छन्द छोड़ देने से उसकी गति निर्मल रहती है और तभी वह योग्य विषयों में रमण भी कर सकता है। थोड़े समय तक एकान्त में रखकर चित्त को आत्मविचार में घुसाने से यथार्थ छान-बीन करने का अवसर पाकर वह सुलझने लगता है और फिर धीरे धीरे शुद्ध भी होने लगता है।

जिन मनुष्यों ने हृदय की गति सुधारना नहीं सीखा उनके सब कार्य्य उलट-पलट हो जाते हैं, और इसलिए जिधर संसार की धारा बहती है उधर ही वे लोग बह निकलते हैं। जिस तरह भूमंडल का पानी समुद्र में जाता है, उसी तरह अनेक हृदयों का प्रवाह विषय-सागर में जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने हृदय की गति सरल रखने

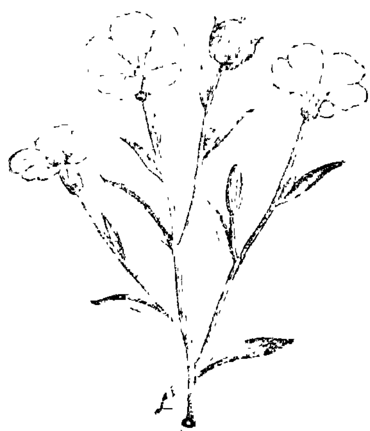
का उपाय करे । इसके लिए हर समय अच्छी अच्छी पुस्तकों का अवलोकन करते रहने की आवश्यकता है जिससे हृदय मैला न पड़े । जिस शुभ कार्य्य को करना हो उसका चिन्तवन सदैव करे, तभी चित्त अनुकूल होकर उसको करने देगा । यदि विचार में कर्त्तव्य को नहीं रक्खा जाय तो चिन्तवन किया हुआ कार्य कदापि निर्विघ्न समाप्त न हो सकेगा । चाहे वर्तमान में योग्यता न भी हो, किसी तरह की रुकावट भी हो; परन्तु उच्च विचारों से मुँह न मोड़ना चाहिए । सदैव बड़े बड़े कठिन से कठिन कार्य्यों को करने की इच्छा रखनी चाहिए । मनुष्य जब सौगुना सोचता है तब एक गुना कर सकता है । और यदि विचारों में ही दृढ़ता हीन हो जाती है तब कुछ नहीं कर सकता ।

आदर्श जीवन बनाने के पहले आदर्श हृदय बनाना चाहिए । जो हृदय निष्कम्प है, जिसको कायरता हिला नहीं सकती वही आदर्श बन सकता है । जिस हृदय में चञ्चलता भरी है । जो ज़रा सी बात के सुनने से डामाडोल हो जाता है, जो थोड़े से कष्ट को देखकर पीछे हटता है तथा विचार-शून्य होकर कार्यक्रम में बाधा डालता है, वह हृदय कदापि उच्च श्रेणी पर नहीं चढ़ने देता । इसी प्रकार जो ज़रा सी बड़ाई में फूल उठता है, थोड़ी सी नामवरी के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार छोड़ बैठता है वह हृदय भी इसी झगड़े में मर मिटता है । परन्तु जो स्वविचारों को उच्च बना कर अपने कर्त्तव्य पर ध्यान

रखता है वही आदर्शरूप होता है। मनुष्य के जितने कार्य बिगड़ते हैं वे सब हृदय की दुर्बलता के कारण ही नष्ट होते हैं।

इस हृदय-दौर्बल्य ने जन-समाज का कितना सत्यानाश कर रक्खा है, इसका लिखना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। प्रथम तो भारत ऐसे पुराने देश में सर्वत्र ही इसका राज्य है, परन्तु जिन लोगों में विद्या-शिक्षा की कमी है वहाँ तो कहना ही क्या है। स्त्रियों का तो यह भूषण ही समझा जाता है कि वे अपने हृदय को कभी हिलने न दें, उसमें ज़रा भी बाहर की हवा न लगने दें, वरन् विचारशून्य डिबिया में जवाहरात की तरह बन्द रक्खें और अपने अपने मर्दों के दिल के सहारे सहारे अपने सब काम करें। ऐसी अवस्था में दैवयोग से घर के पुरुष यदि नहीं रहते, वह होते हुए भी विदेशादि चले जाते हैं तो उन बेचारियों को दूसरे भले बुरे मनुष्यों के दिल के सहारे काम करना पड़ता है। यही कारण है कि स्त्रियों में संगति का विशेष प्रभाव पड़ता है। एक मनोबल के नष्ट-भ्रष्ट होने से समस्त बल निष्फल हो जाते हैं। सारे बलों में मनोबल प्रधान है। इसलिए स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध सबको अपने हृदय की गति को दृढ़ तथा सुयोग्य रखने का यत्न करना चाहिए। स्वार्थपरता से दूर रह कर अपने आत्मा की अनन्त शक्ति पर विचार करते करते मन सुदृढ़ हो जाता है और जो कार्य्य कल पहाड़ दीखता था वह आज हवा सा दीखने लगता है, जिस जगह भय लगता था वहीं आनन्द मिलने लगता है।

लौकिक और पारलौकिक उभय स्थलों में सुदृढ़ हृदय विजय-लाभ करता है। दृढ़-चित्त मनुष्यों को क्षय-रोग, उन्मत्तता, मूर्छा आदि रोग नहीं सताते, मरते मरते भी उनके होश हवास ठीक रहते हैं तथा वे ही लोग स्थिर होकर आत्म-कल्याण और परोपकार कर सकते हैं।



पवित्रता ।

मानव जीवन का 'पवित्रता' एक बड़ा भारी मुख्य अङ्ग है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सबके साधन में प्रथम इसी का आदर करना पड़ता है। अतः इस पवित्रता पर हमारी सुज्ञ बहिनों को कुछ विशेष विचार करना चाहिए। हमारे जैनाचार्यों ने प्रत्येक नियम ऐसे निर्धारित किये हैं जिनमें पवित्र भाव कूट कूट कर भरे हुये हैं। परन्तु वर्तमान में हम लोगों ने केवल स्नान, लेपन, साबुन लगाना इत्यादि बातों में ही इस पवित्रता देवी को शेष कर रक्खा है। यह बड़ी मूर्खता है। पवित्रता यथार्थ में कुछ और वस्तु है—मनुष्य के प्रत्येक बर्त्ताव में नियमानुकूलता और सदाचरण ही पवित्रता की जड़ है। पापरहित सद्गुण सहित परिणमन का नाम ही पवित्रता है, यह तीन मार्गों से मनुष्य में प्रवेश करती है। **मन** द्वारा-**वचन** द्वारा-**कर्म** द्वारा। कोई एक मार्ग रुका रह जाय तो पवित्रता अधूरी रह जाती है।

इसमें भी **मानसिक पवित्रता** अन्य दोनों पवित्रताओं की जननी है, इसलिए सबसे पहले मनुष्य को अपना हृदय सरल और शुद्ध बनाना चाहिए।

यदि कोई मनुष्य स्नानादि कर वस्त्राभूषणों से लदकर कुकर्म, हिंसा, चोरी आदि के विचारों में मग्न बैठा हो, तो वह बाह्य में साफ़-सुथरा होने पर भी, महामलिन अपवित्र है, क्योंकि उसके पास मानसिक पवित्रता नहीं है।

सदैव उदारचित्त रहना, परोपकार करने की चित्त में वासना रखना, सब जीवों से प्रेम रखना, ये बातें मानसिक पवित्रता की सखी हैं। जो हृदय द्वेष–फूट-कलह–व्यसनानन्दादि से अलग है वही पवित्र है।

इसी तरह परनिन्दा-रहित चुगली और असत्य रहित हितकर वचन बोलना पवित्र वचन हैं।

झूठ बोलना, कठोर वचन बोलना, गाली देना इत्यादि बातें वाचनिक पवित्रता का नाश करती हैं। पवित्रता के इच्छुक जीव कदापि अपने वचनों को मलिन नहीं होने देते।

इसी तरह तीसरी क्रियाजन्य पवित्रता वह है जो उत्तमोत्तम कार्यों के करने से आती है। पापरहित प्रवृत्ति ही वास्तव में पवित्रता है।

बहिनो, हमें अपने मन, वचन, कर्म्म सदैव पवित्र रखने उचित हैं।

जो स्त्री मायाचार रखती है, हर बात को पति पुत्रादि से छिपाती है और दूसरे कुटुम्बियों से ईर्ष्या, द्वेष करती है वह पवित्र हृदय की भागी नहीं है। ऐसा न कर अपना मन स्वच्छता की ओर खींच कर निर्मल रखना चाहिए।

समय पर भोजन, समय पर पान, यथासमय पर सर्व कार्य्य कर बचे समय को परोपकार के विचार में और उपाय में लगाना चाहिए। जो मनुष्य धार्मिक तथा परोपकारक कार्यों में थोड़ा भी अपना समय लगाकर हृदय को पवित्र वायु सेवन करा देते हैं उनका हृदय पवित्र रह सकता है। इसलिए बहिनो! आपस की फूट मिटा कर एकता का प्रचार करना चाहिए। कुभोजन, रात्रिभोजन, बाज़ार का अपवित्र भोजन छोड़ स्वहस्त से बनाकर स्वच्छ ऋतु अनुकूल भोजन करना चाहिए। इसी तरह स्वच्छ वस्त्र धारण कर उज्ज्वल शरीर रख बाह्य पवित्रता पर ध्यान रखना चाहिए।

यह पहले कहा जा चुका है कि पवित्रता का संबंध एक बात से नहीं है वरन् प्रत्येक कर्म्म से है। अतः हर एक काम पर ध्यान रखना उचित है जैसे बरतन को माँज कर पवित्र रखना, गृह को झाड़ कर पवित्र रखना, भोजन को शुद्धता से बना कर पवित्र रखना, इसी तरह **धन को दान कर पवित्र रखना चाहिए।** यदि गृह झाड़ा-पोंछा न जाय तो गंदा हो जाता है, उसी तरह यदि धन केवल भोगोपभोग में ही लगा व गाड़ कर रक्खा जाय और दान में न लगाया जाय तो गन्दा हो जाता है। अतः हमको

चाहिए कि पवित्रता के हेतु दान में ख़ूब रुचि रक्खें—इसी तरह **बल** भी वही पवित्र है, जो दुःखी जीवों की रक्षा में लगाया जाय। **ज्ञान** भी वही पवित्र है जो शान्ति सुख देनेवाले विद्या, शिक्षा, परोपकार और आत्मकल्याण के विचार में ख़र्च किया जाय।

इस समय हम भारतवासियों का हृदयाकाश विषयवासना के मेघों से घिर गया है—अपवित्र हो गया है, इसी कारण धनधान्य, धर्म-कर्म सबका ह्रास होता जाता है। यदि अब भी हम लोग पवित्र हृदय होकर स्वार्थ को हवन करके अपने धन का अधिकांश हिस्सा विद्या-प्रचार में, धर्म-प्रचार में तथा शिल्प-शिक्षा में लगावें तो उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं। देखो, विदेशी लोग अपने धन को दे डालना कैसी छोटी सी बात समझते हैं—करोड़ों रुपया लगाकर ग़रीब भाइयों को कारख़ाने खुला देते हैं। माल को कम क़ीमत से बिकवाकर, रोज़गार बढ़ा, स्वयं घाटा सह, देशवासियों का कल्याण करते हैं। यह जो विलायती शक्कर यहाँ इतनी सस्ती मिलती है—कोई ख़्याल करे कि योरोप में मिट्टी की तरह जहाँ तहाँ पड़ी हो सो नहीं है। वरन् लाखों रुपये का घाटा सहकर योरोपीय रियासतें स्वयं यहाँ भारत में लागत से कम क़ीमत पर बिकवाती हैं और भारतमाता के सुपुत्र, सस्ती समझ, देशी मँहगी शक्कर को लात मारकर इसे रुचि से ख़रीदते हैं।

कहिए, कहाँ तो विदेशियों का स्वदेश-प्रेम—धनत्याग और कहाँ हम लोगों का लोभ! एक ही क्यों हमारे संपूर्ण बर्ताव अपवित्र हो रहे हैं। अमरीका के धनिकों के हज़ारों स्कूल-

कालिज भारत में स्वधर्म प्रचारार्थ चल रहे हैं—सैकड़ों कन्याशालाएँ चल रही हैं—देहरादून में–लखनऊ में–कलकत्ते–बम्बई–लाहौर आदि भारत के सुप्रधान नगरों में २--२--४--४ हज़ार मासिक व्यय हो रहा है। उनके पठनालय में जाकर देखा तो क्रिश्चियन पोशाक, क्रिश्चियन बर्ताव, स्वधर्म का गुणानुवाद सर्वत्र नज़र आता है, देखो बहिनों, यह उनके **स्वार्थत्याग और दान का ही फल** है कि उनके धर्म और यश का डंका बज रहा है—परन्तु हम लोग, जो धन और तन को अपवित्र रखने वाले धन को ज़मीन में गाड़ व ब्याज पर देकर, गद्दे, तकियों पर दिन बितानेवाले हैं, उनका उद्धार कैसे हो? बस उद्धार का एक यही मार्ग है कि अपने तन-मन-धन को उत्तमोत्तम ढंगों की ओर झुका कर पवित्र कर डालो। तन को **पर-सेवा** के लिए, मन को **भगवद्भजन** और धन को **दान** के लिए समझो। स्वार्थ की आहुति दे डालो। स्वयं विद्या प्राप्त कर जगत को सुखी और शान्ति-पूर्ण बनाने के लिए उपाय निकालो।



सद्ज्ञान।

सद्ज्ञान क्या वस्तु है? यह आत्मा को कितना अद्वितीय लाभ पहुँचाता है? यह लिखना वा कहना मनुष्य-शक्ति के बाहर है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि धार्मिक स्वच्छता के साथ जो ज्ञान है वही सद्ज्ञान है, और यही सद्ज्ञान धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की जड़ है। मानव-जीवन के प्रत्येक समय के प्रत्येक व्यवहार में इस सद्ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। पुरुष हो वा स्त्री, बालक हो वा वृद्ध, सबकी उन्नति इसी पर निर्भर है। जितने लौकिक वा पारमार्थिक काम दुनिया में हैं सब इसी के बल से यथेष्ट सम्पन्न हो सकते हैं। परन्तु खेद इस बात का है कि जो चीज़ जितनी ही लाभदायक होती है वह उतनी ही अलभ्य होती है, सर्वसाधारण उसको उपयोग में नहीं ला सकते। जो जो प्रभावशाली हैं वे ही ला सकते हैं। तीनों लोकों में सद्ज्ञान

बड़ा दुर्लभ पदार्थ है । तिस पर भी वर्तमान काल में तो अत्यन्त दुष्प्राप्य हो गया है ।

अन्यान्य यूरोपादि देशों में ऊपरी (बाहरी) चमक दमक-वाली सर्व चीज़ों का विकाश तेज़ी से हो रहा है, परन्तु इसका वहाँ भी अभाव है ।

वर्तमान में हम लोग केवल ऊपरी बातों पर विश्वास किये बैठे हैं । सांसारिक स्वार्थांध ज्ञान को ही अपना मान बैठे हैं, परन्तु वह सद्ज्ञान नहीं है । सद्ज्ञान वह है जो जीवों को कदापि इस भव में कष्ट नहीं होने देता और अन्त में उसे ऐसे अनन्त सुख में रख देता है जहाँ पर कुछ भी कमी नहीं रहती, सर्व मनोविकल्प पूर्ण हो जाते हैं । चायक सम्यक् दृष्टि जीव इस सद्ज्ञान को पूरी तरह से मोल ले लेता है, परन्तु जब तक चायक सम्यक्त्व न हो तब तक इस को कायम रखने में उसे बड़ी कठिनाई पड़ती है । यह सद्ज्ञान सदा पण्डितों के साथ भी नहीं रहता, न सदा धनाढ्यों के ही साथ रहता है; परन्तु जो इसकी भावना रखता है उसी के साथ रहता है । अतएव बहिनो, हम लोगों को भी सदैव इसकी भावना रखनी चाहिए । यह समय एक ऐसा अद्भुत आ उपस्थित हुआ है कि जिसमें ऊपर से उत्तमोत्तम कार्य करनेवाले भी सद्ज्ञान से शून्य रहते हैं । प्रातःकाल तथा सायंकाल दोनों समय प्रत्येक बहिन को सोचना चाहिए कि मैंने दिन भर के कार्य्य कितने सद्ज्ञानपूर्वक किये और कितने अज्ञान से किये हैं ? यदि तुमने दान भी किसी

पात्र को दिया व तीर्थ-वन्दनादि भी की तो सोचो कि मान, ईर्ष्या, कषाय-संयुक्त होकर किये वा केवल अपने और पर के उपकारार्थ किये ? यदि कषाय-संयुक्त किये तो वहाँ सद्ज्ञान नहीं है और न वहाँ चारों पुरुषार्थों में से किसी की प्राप्ति ही हो सकती है। हाँ, यदि स्वपर-कल्याणार्थी होकर किये तो वहाँ ही सद्ज्ञान है और वही चारों फल का दाता भी है। इसी प्रकार जितने व्यवहार हैं सब में ध्यान रक्खो कि कषाय कम हों और हृदय स्वच्छ रहे। ऐसी परिणति रखते रखते कोई समय ऐसा आ जाना निश्चय है कि मूल सम्यक्त्व का विकाश आत्मा में हो जायगा और यथार्थ सद्ज्ञान भी स्थिर हो जायगा परन्तु यह भी हमारी सावधानी पर ही निर्भर है। यदि हम अपने नित्य कर्मों में सद्ज्ञान का विचार छोड़ देंगे तो अवश्य कुछ खराबी कर बैठेंगे। हमारा सम्यक्त्व क्षायक नहीं है, न ज्ञान क्षायक है। जो कुछ है या होने की संभावना है वह सब हमारी सावधानी पर ही निर्भर है।

बहिनो ! जितनी पुस्तकें पढ़ो, सबमें से सद्ज्ञान ही सार निकालो। ऐसी पुस्तकें पढ़ो जो विख्यात ज्ञानियों की बनाई हों वा जिनमें स्वच्छता, पवित्रता सिखलानेवाली बातें हों। इनसे विपरीत जो कुज्ञान की पुस्तकें हैं उनको पढ़कर अपना मस्तिष्क व्यर्थ गन्दा मत करो। इसी प्रकार पुत्र-पुत्रियों को भी ऐसे ही स्थान पर विद्याध्ययन कराओ जहाँ सद्ज्ञान की वृद्धि हो। स्तोत्रादि का पाठ बिना अर्थ समझे कण्ठस्थ मत करो। स्तुतियों का स्पष्ट

भावार्थ हृदयङ्गम कर लेने पर सद्ज्ञान की वृद्धि में सहायता मिलती है। क्योंकि जिस स्वाध्याय से अपने सद्ज्ञान की कुछ वृद्धि न हुई तो वह स्वाध्याय केवल नाम मात्र का ही है। वर्तमान में हमारी बहिनें कण्ठाग्र स्तुति-पाठ करके संतुष्ट हो जाती हैं, परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। प्रत्येक कार्य्य में सद्ज्ञान का विचार रखना उचित है। एक शुभ कार्य्य को दश बीस मनुष्य मिलकर प्रारंभ करते हैं, उस समय सब ही एक से दीखते हैं, परन्तु जब कुछ दिन बीत जाते हैं तब अज्ञानी खिसक जाते हैं, और सद्ज्ञानी ही स्थिर रह सकते हैं। बिना सद्ज्ञान के जितने योग्य कार्य्य हैं उनमें एक की भी नींव पक्की नहीं हो सकती। अतएव, जितने नियम, प्रतिज्ञा, सुधार आदि हैं सबके प्रथम हमारे अन्तरंग में सद्ज्ञान का विकाश होना परमावश्यक है।

अपनी समाज में संस्था नहीं खुलती, और जो खुली भी हैं उनकी अवस्था ठीक नहीं रहती, नष्ट हो जाती हैं। इसका मुख्य कारण सद्ज्ञान का अभाव ही है। जगह जगह धर्मोपदेश होते हैं, कुरीतियों के निवारणार्थ अनेक व्याख्यान होते हैं; परन्तु असर नहीं होता, कुचालें कम नहीं होतीं। इन बातों का कारण हमारा ज्ञानाभाव ही है।

बहिनो, इस सद्ज्ञान के अभाव से अनन्त काल से हम लोग भव-भ्रमण कर रहे हैं। अब इसको ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। सद्ज्ञान की वृद्धि के लिए हमें विद्याध्ययन का

अनुराग बढ़ाना चाहिए। भलीभाँति पढ़ने-लिखने की योग्यता न होने से उत्तमोत्तम पुस्तकों का स्वाध्याय नहीं हो सकता और न उनका अर्थ जाना जा सकता है। इसलिए प्रत्येक बहिन को चाहिए कि साल-छः महीने भर परिश्रम करके मातृभाषा पढ़ने-लिखने का अभ्यास अवश्य करलें। वर्तमान में घर घर में बहिनें साधारण लिखना पढ़ना जानने लगी हैं। परन्तु सद्ज्ञान की वृद्धि के लिए यत्न नहीं करतीं। बिना निरन्तर प्रयत्न के बुद्धि का विकाश नहीं होता और इसी लिए यथार्थ उन्नति भी नहीं हो सकती।

स्त्री-संसार में विद्या की वृद्धि के लिए दिनोंदिन लोग उपाय सोच रहे हैं। परन्तु अभी तक कृतकार्य बहुत कम लोग हुए हैं। अतएव, अब स्त्रियों को स्वयं भी कुछ यत्न करना चाहिए और किसी भी उन्नति के कार्य के प्रारंभ में सद्ज्ञान का विचार कर लेना चाहिए।

सद्व्यवहार।

सद्व्यवहार अर्थात् अच्छा बर्ताव मनुष्य मात्र के जीवन का अलंकार है। यही धन और यश पैदा करने में अद्भुत सहायता देनेवाला साथी है। यही बाल्यावस्था, जवानी और बुढ़ापे में निरन्तर सेवा करनेवाला मित्र है। यही मनुष्य को उच्च गौरव दे सकता है और यही विद्या उपार्जन करने में प्रधान सहायक है।

बिना सद्व्यवहार सीखे कोई मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। पूर्वकाल में भारतवर्ष के स्त्री-पुरुष और बालक-युवा सब अपने अपने कर्तव्य पर चलना जानते थे। चाहे विद्या-शिक्षा उस समय में आज कल की अपेक्षा और तरह की हीनाधिक रही हो परन्तु स्वच्छ व्यवहार भारतभूमि पर अब से कहीं अधिक था।

वर्तमान समय में इससे उलटा ही दीखता है। हमारी स्त्री-समाज तो इससे बिलकुल अनजान सी होती जाती है। घर घर

में फूट, वैर, विरोध, द्वेष, ईर्ष्या फैल रही है। इससे हमारा ही नहीं किन्तु हमारी सन्तान का भी नाश हो रहा है। जिस देश में, जिस जाति में बालकों को सद्व्यवहार की शिक्षा अच्छी तरह दी जाती है उस देश और जाति के बालक अपने जीवन-निर्वाह का आदर्श-पथ अपने आप ढूँढ़ लेते हैं। अच्छे बर्ताव से उन्हें सब जगह हर तरह की सुविधा होती है। देश विदेश में जाकर पढ़ने में और व्यापार करने में उनको यथेच्छ सुभीता होता है तथा सब जगह उनका मान भी होता है।

सद्व्यवहार की शिक्षा कोई चाहे कि रास्ता चलते मिल जाय, देश विदेशों में दौड़ने से प्राप्त हो जाय तो, ऐसा हो ही नहीं सकता। इसके लिए सुयोग्य माता, सुयोग्य पिता, और आदर्श गुरु की ज़रूरत है। जैसे विज्ञान सीखने में केवल भाषण सुनने से ही काम नहीं चलता वरन् कुछ वैज्ञानिक क्रिया का भी निरीक्षण करना पड़ता है उसी तरह सद्व्यवहार भी केवल उपदेश सुनने, पुस्तक पढ़ने या देखने से नहीं आता वरन् इसके लिए पवित्र क्रिया सीखने की ज़रूरत है। यह सद्व्यवहार की क्रिया बचपन से यानी माता की गोद में से ही प्राप्त होने पर तरुणावस्था में पूरा पूरा फल दे सकती है, अन्यथा नहीं। अतएव भारतीय बहिनों को चाहिए कि पहले वे स्वयं सद्व्यवहार का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करें और फिर अपनी सन्तान को उसी रास्ते पर चलाने की चेष्टा करें। आज कल के भारतीय नवयुवक आठ दस वर्ष परिश्रम करके बी० ए० की

डिग्री प्राप्त करके दुनिया के सब कामों में चतुर बनने का दावा करते हैं। परन्तु इनमें से सद्व्यवहारी होना किसी बिरले के ही भाग्य में बदा होता है। इसका उदाहरण देखा जाय तो प्रत्यक्ष सब जगह मौजूद है। एक विद्यालय में ही देखिए, ग्रेजुएट से लेकर छोटी छोटी कक्षाओं के अध्यापकों तक, प्रायः सभी, आपस की फूट से भरे रहते हैं। इसी तरह विद्यार्थी भी मनमाने आचरण में मस्त रहते हैं। एक घर में देखिए, पढ़ा-लिखा पुत्र भी अपनी माता से असभ्य बर्ताव करता दीखता है। पति-पत्नियों में मन-मोटाव नज़र आता है। बच्चों के शरीर महामलिन दीखते हैं। इन सबका कारण सद्व्यवहार की हीनता है। अतएव प्रत्येक बहिन व बन्धु को चाहिए कि वे अच्छे बर्ताव में बालकों की रुचि बढ़ावें। जन्म से बच्चे को उठने में, बैठने में, हँसने में अच्छे अच्छे ढङ्ग सिखावें। एक दूसरे के साथ सहानुभूति करने की आदत डालें और उनको उदारता के साथ काम करने की शिक्षा दें। यूरोप आदि देशों में बहुत ही छोटे छोटे बच्चों के लिए शालाएँ बनी हैं। उन में बालकों को अनुभवी अध्यापक केवल सच्चा बर्ताव करना ही सिखाते हैं। उन देशों में अच्छे बर्ताव का पढ़ने से भी अधिक मान है। भारत में अभी ऐसी शालाएँ नहीं हैं। यहाँ प्रत्येक माता की गोद में ही शिक्षालय होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब हमारी बहिनें स्वयं विदुषी बनें और पढ़ना-लिखना भी अपना मुख्य काम समझें। बहिनो! हमको पुरुषों से भी विशेष विद्या-

लाभ के साथ साथ सद्व्यवहार सीखना चाहिए। राष्ट्र की-बागडोर वास्तव में हम लोगों के हाथों में है। बड़े बड़े राष्ट्रों के निर्माता हमारी ही गोद में बनते और बिगड़ते हैं। भारत के कल्याण के लिए यह परम आवश्यक है कि हम सब सुशिक्षा प्राप्त करें और भारत का मुख उज्ज्वल करनेवाले पुत्र-रत्नों को पैदा करें।



आत्मपदार्थ।

संसार में दो वस्तुएँ हैं। एक जीव, एक अजीव। तीनों लोकों में जो जोचीज़ें नज़र आती हैं, जो कुछ भी खेल दीखता है, वह सब इन दोनों का ही है। सब मतों में किसी न किसी ढंग से जीव अजीव तत्त्वों का वर्णन किया गया है। तथा आज कल भी वैज्ञानिक लोग साइंस (विज्ञान,) द्वारा तरह तरह के आविष्कार निकाल रहे हैं। वह सब इन्हीं तत्त्वों की हालत जान जान कर निकाल रहे हैं। हमारे जैनाचार्य इन तत्त्वों को असाधारण रूप से जानते थे। उनकी ज्ञानदृष्टि इतनी सूक्ष्म थी कि जो एक पुद्गल के परमाणु (ऐसा टुकड़ा जिसका टुकड़ा फिर न हो सके- उससे लेकर बड़े भारी परमाणुओं की ढेर, महास्कंध) तक को, धर्माधर्म, आकाश, कालादि समस्त दृश्य अदृश्य पदार्थों को तथा नरकवासी आत्मा से लेकर मोक्ष तक के जीवों की हालत को जानते थे। उसी के अनुसार अपने ग्रंथों में इन तत्त्वों का इतना उल्लेख

पाया जाता है कि जिससे आज तक भी चारों अनुयोगरूपी* भंडार भरा है। यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय तो सब जीवों को दुनिया की सब चीज़ों का ठीक ठीक हाल बतानेवाला जैन धर्म है। इसमें आत्म-द्रव्य (आत्म-पदार्थ) का कथन कैसा असाधारण किया गया है उसको द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ बाँचनेवाले ही जान सकते हैं। अपनी पाठिका बहिनों के हितार्थ हम भी यहाँ पर किंचित् लिखने का यत्न करती हैं।

जीव—जिसमें चैतन्य गुण सदैव विद्यमान रहे और जो तीनों कालों में सांसारिक अवस्था में, कम से कम, चार प्राणों (स्पर्शइन्द्रिय, काय-बल, श्वासोच्छ्वास, आयु) से तथा अधिक से अधिक दश प्राणों से (५ इन्द्रिय-स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र; तीन बल--कायबल, वचनबल, मनोबल, श्वासोच्छ्वास और आयु) जीता रहता है, जिसका कभी नाश नहीं होता; पर्याय बदलती रहती है। जीव नवीन बनता नहीं, सदा से है और सदा जीवराशि† में रहेगा। गति की अपेक्षा जीव के मुख्य चार भेद हैं—मनुष्य, पशु, देव और नारकी तथा ज्ञान की अपेक्षा मुख्य तीन भेद हैं--बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

* चारों अनुयोग = चारों तरह के शास्त्र— १ प्रथमानुयोग, जिसमें पौराणिक कथायें होती हैं। करणानुयोग, जिसमें लोक का कथन हो। चरणानुयोग जिसमें चरित्र का वर्णन हो। द्रव्यानुयोग, जिसमें द्रव्यों का कथन हो।

† जीवराशि = समस्त जीवों का समूह।

बहिरात्मा*--सांसारिक अवस्था में जब यह जीव विषयोपभोगों में फँसकर अपने को भूल जाता है और देह को ही अपनी समझता रहता है उस हालत में बहिरात्मा को संसार में दिनरात बहुत दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि दुनिया की सब वस्तुओं के नाश को देख वह अपना इतना नुक़सान समझता है मानो अपने आत्मा में से कुछ अंश कम हो गया। इसी से निरन्तर कष्ट भोगता है और बड़े भारी कर्मों का संचय करता है। जिसका फल फिर आगामी जन्म में भोगना पड़ता है। दुनिया की सब चीज़ें अपने अपने परिणमन† से परिणमती हैं। (अपना काल पाकर उपजती हैं और समय पूरा हो जाने पर नष्ट हो जाती हैं।) पर वही बहिरात्मा जीव यह चाहता है कि मेरे मन के अनुकूल जगत् की सब चीज़ें उपजें और विनशें; परन्तु संसार में यह होना असम्भव है। बस, इसी परिणति से‡ बहिरात्मा दशा में दुःख की बहुतायत है। बहिरात्मा-जीव जप, तप, दानादि जो कुछ करता है वे भी उलटे फल को देनेवाले होते हैं यानी सांसारिक चीज़ों को देनेवाले होते हैं, मोक्ष को नहीं। यह बहिरात्मदशा सब तरह छोड़ने योग्य है। अन्तरात्मा होना योग्य है।

---

* बहिरात्मा = जिस प्राणी को आत्मा और शरीर का भेद मालूम न होता हो।

† परिणमन = वस्तुओं की एक अवस्था से दूसरी अवस्था का होना।

‡ परिणति = स्वभाव।

संसारी जीव अनादि काल से बहिरात्म-दशा में पड़े हैं। किसी समय किसी जीव के कर्मों का उदय मन्द होता है, तब पापकर्म से डर कर धर्म की तरफ़ परिणति झुकती है, तब किसी सद्गुरु के उपदेश द्वारा आत्म-स्वभाव का हाल जानकर उसमें अटूट भक्ति और विश्वास हो जाता है, यही सम्यग्दर्शन* है और इसी दशा में जीव को **अन्तरात्मा** कहते हैं। यह अन्तरात्मा सांसारिक सब चीज़ों को पहले से अब और ही तरह से जानता है। सिवा आत्मा के और सब चीज़ों को अपने से भिन्न समझ कर उनमें राग-द्वेष बहुत हलका हलका करता रहता है। पहले जिस शरीर और धनधान्यादि का नाश देख विकल होकर अपना ही नाश मानता था अब वह भ्रम उसका मिट गया और अन्तरात्मा-अवस्था में रहकर सब चीज़ों को पृथक् भाव से देखता हुआ हर्ष-विषाद के अवसर पर शान्त रहता है। जिस तरह कोई भोला मनुष्य जल मिला हुआ दूध लेकर बग़ैर जाने पी लेता था इस कारण न तो उसका शरीर पुष्ट होता और न क्षुधा मिटती थी। एक दिन भाग्यवश किसी चतुर मनुष्य के बताने पर वह जलमिश्रित दूध का भेद जान गया और शुद्ध दूध की तलाश करके उस को पीने लगा, जिससे क्षुधा भी मिटने लगी और शरीर भी हृष्ट पुष्ट होगया। इसी तरह अन्तरात्मा अन्य सब द्रव्यों से अपना भेद समझ कर अन्तिम कल्याण करने लगता है। बहिरात्म-दशा को छोड़ कर सम्यक् दर्शन के प्राप्त होते ही चौथा गुण-

* सम्यग्दर्शन = आप्तभाषित तत्त्वों का अटल विश्वास।

स्थान प्राप्त हो जाता है। उसी समय से लेकर बारहवें गुणस्थान* तक जीव की अन्तरात्मा संज्ञा रहती है, जिसके तीन भेद हैं। चौथे गुणस्थान वाला अव्रती† जघन्य, अणुव्रती‡ श्रावक मध्यम, और महाव्रती§ उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं। प्रथम अवस्था में अन्तरात्मा की यह उत्कट अभिलाषा रहती है कि हम **ज्ञाना-वर्णी**, जो ज्ञान को रोके; **दर्शनावर्णी**, जो दर्शन को रोके; **मोह-नीय**, जो मोह पैदा करे (आत्म द्रव्य से जुदी चीजों में रमण करे); **अन्तराय**, जो अनंत सुख वीर्यादि में विघ्न करे; **नाम** जिसमें शरीर की रचना हो, **गोत्र** जो नीचे ऊँचे गोत्र में पैदा करे; **आयु** जो संसार में स्थित रक्खे; **वेदनी** जो दुनिया की चीजों के द्वारा सुख दुःख अनुभव करावे, इन आठों कर्मों का नाश करके मोक्ष सुख को प्राप्त करें। इस कारण उत्तरोत्तर उग्र से उग्र तप करता है, और क्रमशः और विशुद्धता को बढ़ा कर बारहवें गुणस्थान का आश्रय करता है।

---

* बारहवां गुणस्थान = गुणस्थान संसारी जीवों के भावों को कहते हैं। इसके १४ दर्जे हैं, जैसे जैसे विशुद्धता बढ़ती जाती है, दर्जे बढ़ते जाते हैं। नाम--- मिथ्यात्व--सासादन--मिश्र--अविरत, देशव्रत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त-कषाय, क्षीणकषाय, संयोगकेवली, अयोगकेवली--क्षीणकषाय बारहवां है।

† अव्रती = जो नियम रूप से हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्म, परिग्रह का त्यागी न हो।

‡ अणुव्रती = जो हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्म, परिग्रह का एक देशीय त्यागी हो।

§ महाव्रती = जो संपूर्ण पापों का त्यागी हो।

परमात्मा

जिस समय बारहवें गुणस्थान में यह आत्मा ४ घातिया कर्मों* को नष्ट कर देता है, तत्काल तेरहवें गुणस्थान पर जाकर अरहन्त† पदवी को प्राप्त कर सकल परमात्मा हो जाता है। चार कर्मों के नाश से चार गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य प्रगट होते हैं। इस परमात्मा के राग द्वेषादि शत्रु जड़ मूल से उखड़ गये हैं। न क्षुधा है, न तृषा, अठारह दोषों में से कोई नहीं है। संसार की जितनी बाधाएँ हैं उन सब का शेष हो गया है। लोक अलोक‡ प्रत्यक्ष दीख रहा है। जिस ज्ञान के बढ़ाने में भद्र मनुष्य जन्म भर प्रयत्न करता है परन्तु तब भी आशा पूर्ण नहीं हो पाती, वे सब कामनायें यहाँ ठंढी हो गई हैं। दुःख का अंत होकर निजानंद सुख में अरहन्तात्मा मग्न हैं। ये सब अन्तरंग लक्ष्मी और समवशरण§ की बाह्य लक्ष्मी इस सकल परमात्मा

---

* घातियाकर्म = ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहिनी, अन्तराय, ये चारों कर्म आत्मा के असली गुणों का घात करते हैं।

† अरहन्त = जिस आत्मा के चार कर्मों का नाश हो गया हो और अनन्तज्ञान (सर्वज्ञपना, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य) प्रकट हुआ हो।

‡ लोकअलोक = लोक वह है जहाँ तक और [illegible] द्रव्य भी पाये जायँ। इसके बाद केवल आकाश है, उसको अलोक कहते हैं।

§ समवशरण = उस सभा का नाम है जिसमें तीर्थंकर अरहन्त देव उपदेश देते हैं।

को प्राप्त होती हैं वहाँ बारह सभा के मध्य में गंधकुटी* पर सिंहासन में विराजमान हो कर दिव्यध्वनि† द्वारा उपदेश देते हैं, जिससे अनेक भव्य जीवों का परम कल्याण होता है । तथा उसी ध्वनि के अनुसार गणधर देव द्वादशाङ्ग (शास्त्र) रचना करते हैं, जो जिनवाणी परंपरा आज तक हमारा कल्याण कर रही है । जब आयु कर्म की स्थिति बहुत कम रह जाती है, तब समवशरण की रचना उठ जाती है और अवशेष ४ अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में अरहन्त आत्मा सिद्ध शिला पर पहुँच जाते हैं, अर्थात् मोक्ष हो जाती है ।

मोक्ष होने के पश्चात् इनको निकल परमात्मा कहते हैं यानी कल—शरीर से रहित निकल परमात्मा है ।

इस मोक्ष स्थान में बाधा-रहित, अविनाशी, अनन्त अकथनीय सुख है ।

इसका वर्णन करना छद्मस्थ मनुष्य की सामर्थ्य से बिलकुल ही बाहर है । यह सुख अनुपम एक ही है यथा—

एकमेव हि तत् साध्यं , विपदामापदापदम् ।
अपदान्येव भासन्ते , पदान्यन्यानि यत् पुरः ॥

* गन्धकुटी = समवशरण (सभा) के बीच में ऊँचे पर एक वेदी (चबूतरा) सिंहासन, छत्र, चामर आदि सहित रहती है, उसी पर अन्तरिक्ष में विराजमान होकर भगवान् उपदेश करते हैं ।

† दिव्यध्वनि = अरहन्त भगवान् की भाषा । यह मेघ की गर्जन के समान अनक्षरात्मक होती है । इसको सब जीव अपनी अपनी भाषा में समझ जाते हैं ।

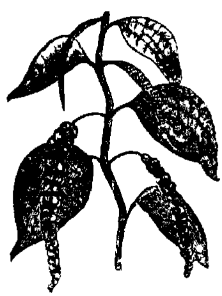
भगिनियो ! एक मोक्ष-सुख ही ऐसा सुख है जिसको किसी न किसी रूप में तीनों लोक के संसारी जीव चाह रहे हैं ।

चाहे राजा हो, चक्रवर्त्ती हो, सबको कुछ न कुछ इच्छा विद्यमान रहती है कि जब तक मोक्ष नहीं होगी, अपना पूर्ण सुख नहीं मिलेगा और न व्याकुलता मिटेगी ।

हम लोगों को उचित है कि बहिरात्मदशा को छोड़कर अन्तरात्मा बनें और परमात्म-पद पाने का शक्त्यनुसार यत्न करें । आलस्य में पड़े रहना उचित नहीं है—

मनुष्य-जन्म का समय बहुत न्यून है । इसमें स्वपर-हित करना ही अपना कर्तव्य है ।

क्षणकत्वं वदन्त्यार्या घटी घातेन भूभृताम् ।
क्रियतामात्मनो श्रेयो , गतेयं नागमिष्यति ।



स्वावलम्बन ।

स्वावलम्बन मनुष्य में अवश्य होना चाहिए। जिस व्यक्ति में यह गुण नहीं होता वह कदापि सुख और शान्ति का पात्र नहीं हो सकता। यद्यपि भ्रमात्मक दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना सहारा दीखता है, प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का अन्नदाता बनता है, एक दूसरे के आश्रय से रह कर सुख दुःखों का अनुभव करता है; परन्तु वास्तव में विचार करके देखा जावे तो मनुष्य के सुख दुःख का मूल कारण उनके स्वावलम्बन पर ही निर्भर है।

अपने पैरों के बल खड़ा रहना, अपने आप को भी एक संसार-सभा का सभासद् समझना ही स्वावलम्बन है। इसके विपरीत कायर रहना, प्रत्येक कार्य्य में पराश्रय ढूँढ़ना स्वावलम्बन नहीं है। जिस जाति में, जिस कुटुम्ब में, जिस घर में इसका जितना ही प्रचार है उतना ही आनन्द का सञ्चार है, और जितना जहाँ जहाँ ह्रास है उतना ही दुःख का प्रादुर्भाव है।

प्रायः हमारी स्त्री-समाज में इसकी खासी कमी पाई जाती है। हमारी बहिनें सोचती हैं कि स्त्रियों को अबला कहते हैं, फिर हममें बल कहाँ से आया, हममें अपने भले-बुरे सोचने की शक्ति कहाँ से आई, हम लोग दुनिया में कुछ नहीं कर सकतीं इत्यादि इत्यादि विचारों से स्वावलम्बन को पास नहीं आने देती हैं। नव महीने घोर कष्ट सहकर जिस सन्तान को उत्पन्न करती हैं, कुछ दिनों में उसीसे झिड़की खा खा कर अपना समय व्यतीत करती हैं। जिस सन्तान से नामवरी की आशा रखती थीं उसीके दुर्गुण चुपचाप बैठी बैठी देखती रहती हैं। जिस पुत्रवधू को देखने की लालसा वर्षों से लगी थी, जिसके विवाह में तन-मन-धन लगाकर दिन रात परिश्रम किया था वही सीधी गालियाँ देती है। जिस धन को पति तथा अपने आप ने अति कष्ट से सञ्चय किया था उसीका दुरुपयोग प्रत्यक्ष देख देख कर जलती रहती हैं। ये सब हालतें क्यों हुईं? यथेष्ट आनन्द क्यों नहीं मिला? इसका उत्तर या कारण यही है कि उन बहिनों ने अपने को कुछ न समझा, अपना कर्तव्य-पालन नहीं किया। इसी कारण यह दुर्दशा हुई।

यदि स्वयं विद्याभ्यास कर विदुषी बनतीं तथा सन्तान-पोषण का मार्ग जानतीं तो अपनी सन्तान को भी सुशिक्षित बना सकतीं, तब उपर्युक्त कष्टों के स्थान में शून्य रह जाता और सुख की वृद्धि होती।

वर्तमान में स्त्री-समाज की उन्नति में पुरुष-गण तो उदासीन

हो ही रहे हैं, परन्तु उनसे चतुर्गुण हताश हम स्त्रियाँ भी हो गई हैं। स्वावलम्बन के अभाव से साहस ऐसा कम हो गया है कि किसी भी महत्त्व के काम पर दृष्टि नहीं जाती। यदि कोई विषय सन्मुख उपस्थित हुआ भी तो पुरुषों का मुँह ताकने लगे। उन्हीं से सब निबटेरा करवा लिया गया। स्वयं हिलने की आवश्यकता नहीं। बस, इसी तरह यदि स्वामी, भाई, पिता जो कोई घर में कमाऊ हुआ उसकी आई खराबी। क्योंकि जितनी भी स्त्रियाँ हैं वे सब मिलकर द्रव्य का दुरुपयोग करने लग जाती हैं। यदि किसी विपत्ति का सामना करना पड़ा तब तो कहना ही क्या है; धन,धर्म्म सब का नाश कर बैठती हैं, ज़रा भी निरवलम्ब रहना कठिन कर देती हैं। यदि कुटुम्ब में पिता, पुत्र, पति आदि लोगों को अवकाश कम रहे या विदेश रहना हुआ अथवा दुर्भाग्य से मरण हो गया तो बदमाश गुण्डों की भोज्य बन जाती हैं। कोई साधु बन कर, कोई ओझा बन कर और कोई धन्वन्तरि वैद्य बन कर ठग लेता है। यहाँ तक कि सर्वस्व गँवा कर, दीन-हीना होकर, संसार-यात्रा पूरी करती हैं। परन्तु, बहिनो! पूर्व काल में हमारी यह अवस्था नहीं थी तथा सभ्य समाज में वर्त-मान में भी यह दशा नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में कितनी विदुषी और वीराङ्गना स्त्रियों के जीवन चरित्र लिखे हैं। उनके महत्त्व-पूर्ण कार्य्यों से स्पष्ट प्रगट होता है कि उस समय स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही पढ़ी-लिखी और कर्त्तव्यपरायणा होती थीं। वे गृह प्रबन्ध करती थीं। अच्छी तरह अतिथि-सत्कार भी करती

थीं तथा अपनी सन्तान को भी स्वयं ही सुशिक्षित बनाने का भार सिर पर लेती थीं। अर्द्धाङ्गिनी शब्द को भी सार्थक करती थीं यानी पति के सम्पूर्ण कार्यों में आधी सहायता देती रहती थीं और अन्त में आर्यिका के व्रत धारण कर समाधिमरण कर स्वर्गगामिनी होती थीं। एक सीताजी को ही देखिए जिनका कि नाम सारे भारत में प्रति मनुष्य के हृदय में अङ्कित है, कैसी थीं। अपने दोनों पुत्रों को असहाया होने पर भी कितना योग्य बनाया था, रावण के यहाँ कितने कष्टों का सामना किस वीरता से किया था तथा अन्त में उग्र तप कर सोलहवें स्वर्ग का सुख प्राप्त किया था। प्रिय पाठिका बहिनो! आज भी वही भारतवर्ष है, उसी धर्म का अवलम्बन है, उन्हीं महती देवियों के कुल में जन्म लिया है; फिर इतनी कायरता करनी उचित नहीं है। बहिनें कहती हैं कि अब कलि-काल है, अब का समय पहला सा नहीं रहा। अब के संहनन पहले से नहीं रहे। परन्तु, बहिनो! यह सत्य है। जो कुछ हुआ है या होगा वह सारे संसार के लिए ही होगा। ज़रा विचार करके देखिये, क्या पञ्चम काल का प्रकोप सर्व प्रकारेण स्त्रीसमाज पर ही है? क्या यह काल सब तरह से स्त्रीसमाज के ही हाथ-पैर तोड़ता हुआ आया है? क्या पुरुषों को बी० ए०, एम्० ए० पास करने की शक्ति प्रदान करता है तथा करोड़ों रुपये कमाने का मार्ग दिखलाता है तथा ब्रह्मचारी बनने योग्य ज्ञान की प्राप्ति भी करने देता है, सब कुछ करने देता है, द्रव्य-क्षेत्र के अनुसार किसी विषय में बाधा नहीं डालता;

परन्तु स्त्रियों को ही प्रत्येक कार्य्य में रोकता है ? यह पञ्चम काल का विचित्र जाल है । बहिनो, यह बेचारे कलिकाल के सिर व्यर्थ ही का दोषारोपण है । प्रकृति की दृष्टि में स्त्री पुरुष सर्वही अपने अपने योग्य एकसे हैं । सब ही निरन्तराय कार्यक्षेत्र में कार्य कर सकते हैं । सबही पुण्य पापों का सञ्चय कर सकते हैं । यह बनावटी प्रपञ्च हमारी बहिनों का ही है कि काल के सिर थोप कर चुप बैठी रहती हैं, हाथ नहीं हिलातीं, न स्वयं पढ़तीं और न अपनी कन्या तथा बहुओं को पढ़ने देतीं या न किसी उपयोगी कार्य में भाग लेती हैं ।

प्रिय बहिनो अब ऐसी अवस्था में समय व्यतीत करने से काम नहीं चलेगा । हमको भी स्वावलम्बन का सहारा लेना चाहिए । स्त्री-पर्य्याय यद्यपि पुरुष-पर्य्याय की अपेक्षा निकृष्ट है, तो भी अन्य लाखों करोड़ों पशु-पर्य्यायों की अपेक्षा अति उच्च है । अनन्त संसार की चतुर्गतियों में मनुष्य-गति ही कल्याण का द्वार है । दोनों को अपना अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए ।

देव-गति में सुख इतना है कि आत्मा संयम, नियम और स्वपरोपकार नहीं कर सकता, सुख में ही लवलीन रखता है ।

नरक में दुख इतना है कि विकलता के कारण कुछ नहीं हो सकता तड़फते तड़फते समय चला जाता है ।

पशु-गति में ज्ञान की मन्दता रहती है और इसमें हेयोपादेय के ज्ञान बिना कुछ नहीं कर सकता ।

एक मानव-जीवन ही कर्म-साधन का क्षेत्र है। इस जगह आकर बेकार समय नहीं खोना चाहिए। एक एक क्षण अमूल्य है। "गया समय फिर हाथ न आवे, लूटो हो लूटन-हारे"। यह सत्य है। जो समय चला गया फिर वह नहीं आ सकता।

हमारी बहिनों को चाहिए कि सबसे प्रथम अपने को विद्यालाभ की ओर झुकावें। जिस तरह हो सके विद्या पढ़ें, अपनी पुत्रियों को उच्च विद्या पढ़ाने का दृढ़ संकल्प करें। हिम्मत करके सुकार्य्य में पदार्पण करना चाहिए। जिस कार्य्य को सब मनुष्य कर सकते हैं उसे हम क्यों न कर सकेंगी? अवश्य कर सकेंगी। ऐसा विचार कर सुकृत करने में किसी को न हिचकना चाहिए। सुदृढ़ होकर कुरीतियों को जाति से निकाल दो, अपने आप से काम लो। परिश्रम करके सुगुणों का संचय करो।

समाजनेता कितना ही उद्योग करें प्रत्येक घर में प्रकाश नहीं पहुँचा सकते। परन्तु यदि प्रत्येक घर की महिला स्वयं पढ़ने का संकल्प कर लें, कुरीतियों को छोड़ देवें तो सहज में सारे भारत का कल्याण हो सकता है।

बहिनो, अपने आपको सुधारना कुछ मुश्किल नहीं है। सैकड़ों ऐसे महान् व्यक्ति हैं जो लाखों का उद्धार करते हैं। फिर हम लोगों को अपनी सन्तान का सुधार करना, स्वयं ज्ञान सम्पादन करना क्या कठिन है? जब तक आलस्य करते हैं तभी तक गढ़े में पड़े हैं, यदि उद्योग करें तो कुछ भी असाध्य

नहीं है। मनुष्य उद्योग से ही कर्मों को काट कर मोक्ष प्राप्त करता है। सभ्य मनुष्य को चाहिए कि उद्योग में शिथिल न रहे, जो उद्योगशील हैं उनका पुरुषार्थ बुढ़ापे में भी नहीं थकता। बराबर क्रमशः बाल्यकाल में विद्याभ्यास, युवावस्था में नीति-शिक्षा और वृद्धावस्था में आत्मध्यान करते करते बीतता है। उन्हीं को समाधिमरण भी मिलता है। और, जो हमारी बहिनें तकिये के सहारे पड़ी पड़ी जीवन व्यतीत करती हैं उनका शरीर ऐसा शिथिल हो जाता है कि तीनों ही अवस्था व्यर्थ बीत जाती हैं। सदा रोग से घिर कर संसार में भार-स्वरूप रहती हैं। इसी प्रकार जो ग़रीब स्त्रियाँ हैं वे भी मूर्खा होने के कारण कलह में ही जन्म व्यतीत करती हैं। अतएव, सर्व बहिनों को उचित है कि अवश्य ज्ञान सम्पादन करें। साहस करें। **अपने आप को मनुष्य समझें**, सब कुछ होगा।



आत्मगुण।

जीवधारी आत्मा संसार की सब वस्तुओं से श्रेष्ठ एवं माननीय है तथा अनन्त गुणों का धारक है, इस बात को सभी सभ्य लोग स्वीकार करते हैं, तथा अनुभव से भी जानते हैं। इसी कारण, आस्तिक और नास्तिक समस्त धर्मावलम्बियों ने अपने अपने धर्म में आत्म-वर्णन किसी न किसी रूप में किया ही है। परन्तु इस वर्णन में एक बड़ा भारी भेद पड़ गया है। वह भेद क्या है? केवल स्वार्थ–यानी जिन लोगों में स्वार्थ की कमी है उन्होंने कुछ अच्छा वर्णन किया है और जिन में स्वार्थ की मात्रा अशेषतः नष्ट हो गई है उन्होंने बिलकुल ही स्पष्ट कह दिया है। परन्तु जब जो स्वार्थ से घिरे हैं वे बहुत ही थोड़ा एवं अस्पष्ट कह सकते हैं। अनन्त गुणात्मक आत्मा स्वभाव से ही बाधा-रहित है। इसके एक गुण "पर्याय धारण करना" को लीजिए। यह स्थूल तथा सूक्ष्मरूप बराबर बना रहता है।

कभी नष्ट नहीं होता, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पलटता रहता है। यह आत्मा किसी पर्य्याय में जाय एक अंश भी नहीं घटता। चाहे चींटी हो या हाथी हो या मनुष्य हो, संपूर्ण पर्य्यायों में अखण्ड चैतन्य रहता है। यह अनन्त गुणों का घर है। जब मनुष्य को स्वार्थ घेर लेता है तब इन सब बातों को स्वीकार करने में डरने लगता है। वह समझता है कि यदि सब आत्माओं को बराबर केवल पर्य्यायकृत भेदी मानता हूँ तो जीवों को मार कर भक्षण किस प्रकार करूँगा। यदि पर्य्यायवान् मानता हूँ तो नरक स्वर्ग सब सिद्ध हो चुके, किस प्रकार परपीड़न करूँगा। बस, इसी कारण, प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं में भी स्वार्थी भ्रम कर करके उलटा चलता है। साक्षात् दीख रहा है कि जिस प्रकार ज्ञान-दर्शन की क्रियायें हमारे भीतर झलक रही हैं उसी प्रकार पशु, पक्षी सब में आत्मदर्शन हो रहा है। वे सब भी सुखी दुखी होते हैं, भले बुरे की पहचान करते हैं, समय समय पर क्षुधा, तृषा जिस प्रकार हमको तंग करती है उसी प्रकार इनको भी सताती है। फिर इन प्राणियों का घात करना एवं इनको दुखी करना मनुष्य मात्र के लिए कैसे स्तुत्य हो सकता है? इसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आत्माओं की अवस्था है। इनमें भी सम्पूर्ण गुणवाला आत्मा सर्वतोभाव से रहता है। इसी कारण जैनाचार्यों ने इनके छेदन, भेदन में पाप बताया है। परन्तु जिह्वा लम्पटी वर्तमान के नव युवकगण तथा अज्ञानाच्छादित महिला-मण्डली इस बात को

असत्य मानकर मनमाना आरम्भ करती है। स्वानुभव प्रत्यक्ष बात पर भी विश्वास नहीं करती। काल के चक्र से फिर आधुनिक विद्वानों ने इधर दृष्टिपात किया है और अनेक यन्त्रों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया है कि पेड़-पत्तों, फल-फूलों में भी जीवात्मा है। वे भी श्वासोच्छ्वास लेते हैं; मिट्टी, जल का आहार पान करते हैं, जब तक जीते रहते हैं हरे रहते हैं, मरने पर सूख जाते हैं।

जब तक हम लोग आत्मगुणों को स्वीकार नहीं करेंगे कभी यथार्थ मार्ग पर नहीं आएँगे। जैसे साइंस (विज्ञान) द्वारा पौद्गलिक पदार्थों के गुणों को मनुष्य जानते हैं उसी प्रकार प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से आत्मगुणों को जानना भी परमावश्यक है।

जब हम यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा पर्यायवान् है, तब सब जीव एक से लगने लगते हैं; पामर प्राणियों पर दया भाव उत्पन्न हो जाता है, क्षुद्र जीवों पर क्रोध नहीं होता, पतित मनुष्यों से घृणा न होकर उनको सुधारने के भाव उत्पन्न होने लगते हैं, किसी के प्राण नाश करने में हाथ नहीं उठता। समय के चक्र में हम भी सब पर्यायों को भोग चुके हैं। ऐसे ऐसे विचारों से आत्मा द्वेषाग्नि को जलांजलि देकर शान्त और सुखी रहता है।

केवली भगवान् ने आत्मा के अनन्त गुणों का वर्णन किया है। उन सम्पूर्ण गुणों का अनुभव करना छद्मस्थ आत्मा के लिए असाध्य है। तो भी यथासाध्य अनुभवित गुणों पर विश्वास और

विचार करते रहना उचित है । आत्मगुणों पर श्रद्धा होना ही सम्यक्त्व है । इन्हीं को विस्तृत समझना सम्यग्ज्ञान है । और, इन्हीं में स्थिर हो जाना सम्यक् चारित्र है ।

"अनन्तशक्तिमान होना" यह भी आत्मा का एक असाधारण गुण है । इसको समझने से एवं विश्वास करने से हम लोगों को आत्म-साहस भले प्रकार हो जाता है । हमारी आत्मा में कितनी शक्तियाँ भरी हैं इसका तनिक भी हम लोगों को अनुमान नहीं है । हम लोग प्रत्येक कार्य्य अशक्त बन कर करते रहते हैं । कर्मों से दबी हुई अनन्त शक्ति को भूल कर दुर्बल दीन हो गये हैं । परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । हमारी समस्त शक्तियाँ इन्द्रियों द्वारा दबी हैं । जब जब निमित्त मिलता है तभी तब प्रकट हो जाती हैं ।

एक बालक ५ वर्ष की अवस्था में एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं रखता, वही बालक पढ़ते पढ़ते २० वर्ष की अवस्था में मर्मज्ञ पंडित हो जाता है । यह प्रभाव शक्ति देवी का ही प्रसाद है । हमारी अटूट शक्ति का प्रमाण हमारी प्रत्येक इन्द्रिय दे रही है ।

चक्षु इन्द्रिय को ही देखिए, यह कितने प्रकार के वर्णों को पहचानती है, कितने रूपों को भेद-प्रभेद-सहित जानती है, जितना आँखों से दीखता है उसका शतांश भी मनुष्य मुख से वर्णन नहीं कर सकता । इसी प्रकार कर्ण इन्द्रिय द्वारा अपरिमित शक्ति का बोध होता है । एक आत्मा हज़ारों मनुष्यों के शब्दों को सुन कर सब को पृथक् पृथक् पहचानता है । यदि भेद पूछा जाय तो वचनों द्वारा कुछ भी नहीं कह सकता कि

इस मनुष्य के शब्द में यह भेद है। परन्तु अपनी अनन्त शक्ति से सब भेदों को भीतर ही भीतर अनुभव करता रहता है, तात्पर्य यह है कि—

क्रमशः प्रकाशित होनेवाली अनन्त शक्तियाँ एक साथ एक आत्मा में विराजमान रहती हैं। जितना जितना परिश्रम किया जायगा प्रकट होती जायँगी और जिस दिन सम्पूर्णतया प्रकटीभूत हो जायँगी तभी मोक्षरूप अवस्था हो जायगी।

हम लोगों को अपने स्वरूप पर विश्वास करके कभी हताश नहीं होना चाहिए। जब तक अपनी पूर्ण शक्तियाँ आविर्भूत न हो जायँ तब तक सोत्साह यत्न करते रहना चाहिए। जिन कार्यों से हमारी आत्मा पतित हो कर शक्ति-विहीन हो उनको परित्याग करना चाहिए।

अभक्ष्य भक्षण से और कुसंगति से आत्मशक्ति का नाश होता है। इनसे बच कर स्वशक्तिदीपक विद्यालाभ, परोपकार, तप, दानादि कार्य्य करने चाहिए, जिनसे आत्मा उन्नत होकर स्वगुणों पर पहुँच जाय। इस विषय में हमारा अधिकतर कहना उन भोली बहिनों से है जो अपनी शक्तियों को बिलकुल नहीं पहचानतीं और दीना अवस्था में ही जीवन व्यतीत कर देती हैं।

बहिनो! आत्मगुणों पर विश्वास करो, उनको चमकाने का प्रयत्न करो तब सर्वशक्तिशाली आत्मा स्वयं ही प्रकट होगा।

धनदशा-दर्शन ।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १ ॥

अर्थात् दान, भोग और नाश, ये तीन अवस्थायें द्रव्य की होती हैं ।

जो मनुष्य न दान देता है और न स्वयं भोगता है, उसका द्रव्य तीसरी गति को प्राप्त होता है यानी नष्ट हो जाता है ।

नीतिकार ने उपर्युक्त श्लोक कैसा यथार्थ कहा है–सत्य है । धन की ये तीनों अवस्थाएँ नित्य प्रति प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही हैं ।

इस श्लोक पर विचार करने से एक प्रश्न यह उठता है कि आज हमारी बहिनों के द्रव्य का उपयोग किस रीति से हो रहा है ?

इस प्रश्न का उत्तर शीघ्रता से देने की आवश्यकता नहीं है, वरन् खूब सोच विचार कर इसका सार निकालना चाहिए। यहाँ पर एक व्यक्ति विशेष से हमारा प्रयोजन नहीं है, सारी समाज की अवस्था ही हमारी वास्तविक अवस्था है और उसी

पर विचार करना अपना मुख्य कर्तव्य है। शायद आपका यह उत्तर होगा कि हमारी समाज के लाखों रुपये प्रति वर्ष दान में लगते हैं और लाखों ही विवाहादि में भोग सामग्री के निमित्त ख़र्च होते हैं। परन्तु यह कहना मेरे ख़याल में अनुचित है, क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जावे तो न हमारे यहाँ यथार्थ दान होता है और न यथार्थ भोग। नामवरी के लिए जहाँ-तहाँ द्रव्य फेंक देना दान नहीं है। बिना देखादेखी और बिना ईर्ष्या आदि के ख़र्च करना ही दान है।

दान का लक्षण जो पूर्वाचार्यों ने कहा है वही सर्वथा ठीक है।

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्"

अर्थात्—अपने और पर के उपकार के लिए धनादिक व स्वार्थ का त्याग करना ही दान है।

उपर्युक्त वाक्यानुसार जिस दान से अपना तथा पानेवाले का कल्याण न हो वह कदापि दान नहीं हो सकता। दान करते समय नामवरी पर ध्यान देना उचित नहीं। किन्तु स्वपर-कल्याण ही पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि जब तक हम दान के पूर्व अपने ज्ञान से काम नहीं लेंगे कदापि यथार्थ दान करने में सफलीभूत नहीं हो सकते। अज्ञानी, दान तथा भोग की विधि में उलट पलट कर बैठता है; अर्थात् अपनी अज्ञानता से न करने योग्य दान कर गुज़रता है और न भोगने योग्य भोग भोग

लेता है, इसी कारण अपना धनादि व्यय करते हुए भी उसके फल में सफलीभूत नहीं होता।

जैसे वर्तमान में हमारी बहिनें दान करने का एक मार्ग मन्दिर बनवाना पसन्द करती हैं, केवल इस ख़याल से कि प्रतिष्ठा में धूमधाम होकर नामवरी होगी व हमारा यश सर्वत्र फैलेगा परन्तु इस बात पर ध्यान नहीं देतीं कि मन्दिर मज़बूत बने व इसकी आजीविका का उत्तम प्रबंध रहे अथवा ऐसे स्थान पर मन्दिर बने जहाँ आवश्यकता हो, जहाँ के मनुष्य धर्मालय के न होने से धर्म से च्युत हो रहे हों। मन्दिर में ऐसे स्थान भी बनाये जावें जिनमें धर्मोपदेश सभादि कुशलता से हुआ करे और जहाँ भव्य जीव निराकुलता से सामायक (ध्यान) व स्वाध्याय करें। इन बातों के विचार से शून्य आधुनिक बहिनें जहाँ तहाँ बीसों मन्दिरों के रहते हुए भी मन्दिर बनवा डालती हैं। चाहे अन्त में योग्य प्रबंध हो सके वा न हो सके। बस इसी से यथार्थ फल की भोक्ता भी नहीं हो सकतीं।

यही हाल आहारदान का है। जिस साधु व त्यागी की प्रख्याति हो रही है उसके लिए ही रसोई तैयार होती है और यदि कहीं उसका आहार न हुआ तो कषाय बढ़ा ली जाती है। प्रख्यात साधु शहर से बिहार कर गये कि बहिनों ने भी शुद्ध रसोई से छुट्टी पाई। छिपे छिपाये सीधे-साधे क्षुल्लक ब्रह्मचारी आदि चाहे उपवास ही क्यों न करें, कुछ परवाह नहीं। क्या बहिनों! यही आहार-दान है? कदापि नहीं।

हमको तो नित्य प्रति पात्रदान करना चाहिए। छोटे बड़े सभी रत्नत्रय के धारक त्यागी हमारे दानपात्र हैं। हमको अपने हृदय में सब पर यथार्थ दया भाव रख कर सन्मार्ग की वृद्धि का उपायस्वरूप दान करना चाहिए।

विद्यादान का तो कहना ही क्या है। इससे तो हमारी बहिनें प्रायः दूर ही भागती हैं। अभी तक हमारे स्त्री-समाज के हृदय में 'विद्या क्या वस्तु है?' इस प्रश्न का अंकुर ही नहीं उत्पन्न हुआ है। विद्या कैसी अद्भुत सुखदायिनी रसायन है, इसकी खोज अभी तक हमने नहीं की।

एक बार यदि इस विद्या-दान का विश्वास हमारी महिला-मंडली के हृदय पर स्थान पा ले तो क्या आज हमारे यहाँ ज्ञानावरणी कर्म का ऐसा गाढ़ परदा ही पड़ा रहे? कदापि नहीं।

इस रसायन से दाता और पात्र दोनों का अविद्यारूपी मैल दूर हो कर उद्धार हो जाता है।

बहिनो! वर्तमान में ज्ञान-दान की ही परमावश्यकता है। और इसी से इसका फल भी बढ़ा चढ़ा है। जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता जिस जीव को होती है, उसको जितना लाभ अभीष्ट पदार्थ से होता है वैसा अन्य पदार्थों से नहीं। यदि कोई भूख से मरता हो और उसे आभूषणों से लाद दिया जावे तो क्या वह संतुष्ट हो सकता है? कदापि नहीं। परन्तु शोक है कि हमारी बहिनों को यही अच्छा लगता है। इसी से कहना

पड़ता है कि हमारे यहाँ यथार्थ दान नहीं होता। यदि यह कहा जावे कि यथार्थ भोग में ही हमारा द्रव्य लगता है, तो यह भी ग़लत है।

क्योंकि भोग वह है जिससे कम से कम किंचित् काल भी शारीरिक तथा मानसिक सुखों का अनुभव हो। जहाँ इससे उलटा है वह भोग नहीं। हमारे भोग ठीक उलटे हैं, दुःख की नींव डालनेवाले हैं, इसलिए यथार्थ नहीं हैं। जैसे एक पुत्र ने किसी माता की गोद भरी और माता ने भी अपना तन, मन, धन पुत्र के लिए ख़र्चने का संकल्प कर लिया, परन्तु किया क्या? महा अहितकर कर्म, जन्म से ही आभूषणों से लादना पसंद किया। ऐसे ऐसे आभूषण योग्य समझे जिनमें पाव पाव भर कंकड़ पड़े हों जिनके भार से कोमल बालक के हाथ पैरों का चमड़ा उधड़ जावे, फिर १०-१२ वर्ष का जोंही हुआ कि विवाह का टंटा रचा, पक्की सगाई टीका आदि रीतियों को प्रारंभ कर इसी बहुमूल्य शैशवावस्था में विवाह कर डाला। बस, लगा लग्गा धन व्यय होने का। कुछ रुपये सुनारों के यहाँ गये, कुछ दर्ज़ियों के यहाँ गये, कुछ आतशबाज़ी में जल गये और कुछ भूरवाड़ी आदि में बाँटे गये। बस द्रव्य यों गया कि कर्ज़दार बनना शुरू हो गया और बाल-विवाह के कारण पुत्र-पुत्रियों का जीवन भी नष्ट हुआ, उनकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों पर भी पानी फिर गया। क्योंकि बाल-विवाह होने के कारण शीघ्र ब्रह्मचर्य भंग होने से

नाना प्रकार के रोग लग जाते हैं, सन्तान अशक्त, बुद्धिहीन, कम आयुष्क उत्पन्न होती है इत्यादि इत्यादि सैकड़ों संकट आ दबाते हैं। बस यही हमारे भोगों की इतिश्री है।

कहिए बहिनो! ये कैसे भोग और कैसा धन-व्यय है। क्या ऐसे भोगों से हमको सुख मिल सकता है? कदापि नहीं। जहाँ शरीर और द्रव्य दोनों का नाश है वहाँ सुख कैसा?

प्राय: सभी कार्य हमारे ऐसे ही हो रहे हैं। कहाँ तक लिखा जावे, लिखने से एक बड़ा भारी ग्रंथ बन सकता है; परन्तु हमें यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र ही कराना है, विशेष नहीं। उपर्युक्त दृष्टान्त से समझ लेना चाहिए कि हमारे यहाँ यथार्थ दान तथा भोग भी नहीं हैं। बस अन्त में द्रव्य की तीसरी गति जो नाश है वही करना होता है।

आज हमारी अज्ञान दशा से हमारे द्रव्य का सदुपयोग नहीं होता। सैकड़ों घर फ़िज़ूलखर्ची से व असहाय होने से उजड़ जाते हैं। सैकड़ों स्कूल धनाभाव से टूटे जाते हैं ये सब नाश के ही अङ्गोपाङ्ग हैं, न कि दान और भोग के।

क्या हम लोग नित्य प्रति नहीं देखते हैं कि वर्त्तमान में भारत की अवस्था कैसी विचित्र हो रही है, सैकड़ों पढ़े-लिखे मनुष्य काम-काज की तलाश में फिरते हैं, परन्तु कहीं चिपकने को जगह नहीं मिलती। कितने ही साधारण मज़दूर दिन भर घोर परिश्रम करते हैं, परन्तु कुटुंब-पोषण भार हो रहा है। सैकड़ों बालक, वृद्ध, विधवा तथा और और अनाथों का जीवन

साल दर साल दुर्भिक्ष ले रहा है। इन सब बातों का कारण देश का धनाभाव ही है।

फिर ऐसे कठिन समय में जिनको ऐश्वर्य मिला है उन पर संसार का बड़ा भार है। यदि वे लोग अपने द्रव्य को समयानुसार काम में नहीं लावेंगे तो मानव-जीवन के कृतघ्नी रहेंगे। अत: धनिक लोगों को अपना द्रव्य दान तथा भोग में इस विधि से लगाना चाहिए जिससे सदैव स्व-परकल्याण हो सके। बिन विचारे अज्ञानता से दानादि करने से द्रव्य का कैसा दुरुपयोग होता है। बिना ज्ञान के सर्वस्व लगाते हुए भी कैसा फल मिलता है इसका एक दृष्टान्त नीचे पढ़िए।

किसी एक बड़े शहर में एक ज़मींनदार रहता था। वह एक दिन अपनी गद्दी पर बैठा बैठा किसानों से लेन-देन की बात-चीत डांट सांस कर रहा था (वर्तमान में ज़मींनदार और खेत जोतनेवालों में लड़ाई का नंबर वित्त से बाहर चढ़ा-बढ़ा है) कि इतने में एक महा कृश क्षीण-काय साधु आते दिखाई पड़े। उन्हें देख कर ज़मींनदार (मालिक) उठ कर खड़ा हुआ और विनयपूर्वक नमस्कार कर साधु को उच्च आसन पर बैठाया। इस समय ज्येष्ठ का महीना था इससे बड़ी कड़ी गर्मी पड़ रही थी, साधु भूख तथा गर्मी के कारण ही ऐसे क्षीण दिखाई देते हैं यह सोच कर उसने शीतोपचार अच्छा समझा और अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि पवित्र जल तथा एक मलमल का थान और थोड़ा मीठा मँगाओ।

उसके पुत्र बड़े आज्ञाकारी और विनयवान थे उन्होंने झटपट सब वस्तुएँ ला दीं। मालिक ने साधु को स्नान कराया और थान से मलमल फाड़ कर गीली करके उनके शरीर पर लपेट दी। फिर मीठा घोल कर शरबत बनाकर साधु को पिलाया। फिर ऋतु के अनुकूल भोजन कराकर बड़ी भक्ति से साधु की सेवा की। किसी ने पंखा हाँका, किसी ने पैर दवाये इत्यादि सेवा-शुश्रूषा बाप बेटों ने मिलकर बड़े विनय से की। साधु महाराज सावधान होने पर फिर वन को जाने लगे। यह सब चरित पास बैठा एक किसान बड़े ध्यान से देख रहा था। वह भी उठ कर साधु के साथ साथ बाहर आया और बड़ी भक्ति से साधु से कहने लगा "महात्मा आप अमीर लोगों के यहाँ ही आहार करते हैं या कभी हमारे ऐसे गरीबों के यहाँ भी पधार सकते हैं"? साधु ने उत्तर दिया, "हमारे लिए गरीब अमीर सब एक से हैं, जो मनुष्य समय पर जो कुछ देता है उसी में हमको संतोष हो जाता है।" यह सुन कर किसान बड़ा प्रसन्न हुआ और कहने लगा, "प्रभो, एक बार हमारे ऊपर भी कृपा करें—अवश्य हमारे गांव में पधारें"। यह कह कर किसान फिर भीतर आया और अपना काम कर अपने गांव को चल दिया।

नित्य प्रति किसान को उस साधु का ध्यान आ जाता था; उसके हृदय में आहार देने की भक्ति हो जाती थी। बाट देखते देखते करीब ६ महीने के बाद एक दिन साधु उस गाँव में आ निकले, उन्हें देखकर किसान बड़ा प्रसन्न हुआ। उसे अपने

ज़मींनदार के यहाँ की सब विधि स्मरण हो आई और उसी के अनुसार करने लगा। अपने पुत्रों से कहा कि पानी भर कर लाओ तथा एक गाढ़े का थान थोड़ा गुड़ निकाल कर ले आओ। बस अब क्या था, बाप बेटे सब मिलकर महात्मा को स्नान कराने लगे। खूब स्नान करा कर गाढ़े का थान भिगो कर लगे लपेटने। इस समय शीतकाल था अतः साधु के होश बिगड़ने लगे। ठंड से उन्होंने थान लपेटने को मना किया, फिर वह गुड़ का शरबत पिलाने लगा तो उसको भी मना किया। यह देख कर किसान को बुरा लगा। वह कहने लगा—

"महाराज मैंने तो पहिले मालिक के मकान पर ही आपसे पूछ लिया था कि आप ग़रीबों के यहाँ भी पधारते हैं वा नहीं। उस समय आपने वचन दिये थे। महाराज! हम ग़रीबों के यहाँ महीन मलमल कहाँ से आवे, हमारे यहाँ शक्कर कहाँ से आवे जैसी कि मालिक के यहाँ थी। हमारे यहाँ तो यही गाढ़ा कपड़ा और गुड़ है।" इत्यादि इत्यादि कह कर उस अज्ञानी ने कपड़ा उढ़ा ही दिया और ज्यों त्यों कर शरबत पिला ही दिया। बेचारे महात्मा मारे ठण्ड के गिर पड़े और बेहोश हो गये। यह देख किसान ने पशुओं का सा उनका इलाज किया। अनेक घोर कष्टों के पश्चात् किसी तरह उन्होंने जंगल की राह ली।

कहिए पाठिका बहिनो! अज्ञान ने क्या कर दिखाया? क्या बेचारे किसान का समय साधु की सेवा में नहीं गया?

क्या उसका ख़र्च नहीं हुआ? अवश्य हुआ, परन्तु फल क्या हुआ? मुख्यता से पाप।

इस किसान की अज्ञानता ने दान न देने दिया और गर्मी की ऋतु में सेवने योग्य वस्तुओं को शीतकाल में सेवन करा कर विशेषरूप से उलटा पाप बन्ध कराया। बस यही गति आज हमारे भाई बहिनों की हो रही है। धन लगाना चाहिए विद्यादान में, परन्तु लगाते हैं और कामों में। धन लगाना चाहिए पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा में, उनके शरीर की रक्षा में, परन्तु लगाते हैं विवाह में, पञ्चों की जेवनार में, मिलनी में, भाँजी बाँटने में, मुज़रा नाच कराने में। बस सज्जनो! ये सब क्रियाएँ किसान के समान उलटी हैं। अस्तु आप लोगों को अपना ढँग बदल देना चाहिए और इस अवस्था को बदल कर यथार्थ मार्ग पर आना चाहिए। जो रुपया फ़िज़ूलख़र्ची में जाता है उस को ही दानादि शुभ कार्यों में लगाने से सब कुछ हो सकता है।

वर्तमान की धनगति का दिग्दर्शन सुज्ञ पाठक-पाठिकाओं को हो चुका होगा। अब यथार्थ दर्शन भी कुछ कराया जाता है। इस पर ध्यान देना और अवश्य कुछ न कुछ ग्रहण करना कर्तव्य होगा।

लक्ष्मी को दान और भोग में लगाने का उपदेश दिया गया है और ऊपर के श्लोक में दान शब्द सबसे पहले है। इससे सूचित होता है कि धन के लिए सबसे उत्तम उपयोग दान है। सच है, दान करने से ही लक्ष्मी अपनी हो सकती है। और जो

इसके विपरीत समझते हैं उनकी संपत्ति कभी न कभी उनको दुःख: दायिनी होकर ही रहती है ।

पूर्व काल में बड़े बड़े दानवीर इस भारत-भूमि पर हो चुके हैं, हमारे यहाँ गृहस्थियों से लेकर साधुओं तक ने दान किया है । देखिए, अब भी दक्षिण देश में हज़ारों वर्ष के ताड़पत्र पर सुई से लिखे ग्रंथ मिलते हैं । ये सब किसने किस भाव से लिखे थे ? हमारे वीतरागी सर्व परिग्रहत्यागी पूर्व मुनियों ने ही निस्वार्थ भाव से लिखे थे । पूर्व मुनियों का हम पर कैसा दान-भार है जो अब तक हमको मोक्ष-मार्ग दिखाता है । इसी तरह पूर्व के गृहस्थ भी महा दानी होते थे । क्या अब हम लोगों को भी उसी मार्ग पर नहीं चलना चाहिए ? क्या अपने द्रव्य को दान के लिए नहीं समझना चाहिए ? यदि जोड़ कर रख जावेंगे तो न मालूम पीछे से कौन भोग करेगा । संभव है कि हमारा बुरा चाहनेवाला कोई वैरी ही भोग करे अथवा बदचलन पुत्र व्यसनों में लुटावे, तब हमारी गाढ़ी कमाई किस काम आई ? व्यर्थ ही तो गई । यदि जोड़ें नहीं और मारामार भोगों में ही फेंक देवें तो और भी बुरा फल होगा । जो दान धर्म में न लगा कर केवल सांसारिक प्रयोजन अपनी संपत्ति से निकालता है उससे संपत्ति भी बड़े बड़े कुकर्म कराती है; वह मनुष्य ज़रूर पाप के फंदों में पड़ जाता है और अंत में कुछ भी हाथ में नहीं रहता, इसी जीवन में दरिद्रता और अपयश आदि के दुःख भोग लेता है ।

हमें स्वार्थत्यागी होना चाहिए । अपने तन, मन, धन को

क्षणभंगुर समझ सदैव दूसरों के लिए खर्च करने को तैयार रहना चाहिए। जिन जीवों के ऐसे भाव रहते हैं वे ही परोपकार कर सकते हैं, वही इस मानव-जीवन से कुछ काम निकाल लेते हैं। पूर्वाचार्यों का मत है कि—"कम से कम अपनी संपत्ति का दशवाँ भाग प्रत्येक गृहस्थ को अवश्य दान में लगाना चाहिए नहीं तो वह संपत्ति अपवित्र है।"

संपत्ति का दशवाँ भाग दान में लगा देना हमारे लिए कोई बड़ी भारी उदारता नहीं है, बरन एक कर्तव्य है। जैसे बाग़ का माली बढ़ने के लिए पेड़ों को छाँट देता है तभी वे खूब बढ़ कर फलते हैं। उसी तरह हम जब दशवाँ भाग निकाल कर दान में डालते रहेंगे तभी संपत्ति टिकेगी, अन्यथा नहीं।

पाठक तथा पाठिकागण! वर्तमान समय हमारे कर्तव्य-पालन का ही नहीं है, वरन उदारता का है। इस समय हमको अपनी संपत्ति का पाँचवाँ भाग तो अवश्य दान में लगाना चाहिए। हमारे देश, जाति, धर्म का बहुत अधःपतन हो चुका है। यह घाटा हमारे गहरे दान से ही पूरा होगा अन्यथा नहीं।

अँगरेज़, पारसी आदि कई उदार जातियाँ कैसे कैसे अद्भुत दान दे रही हैं। इनमें से एक एक वीर ने अपनी संपूर्ण सम्पत्ति दान में दे डाली है।

हमारे यहाँ दान चार प्रकार का कहा है।

१—आहारदान (चार संघ को भोजन कराना)।

२—औषधिदान (दवा-सेवा करना)।

३—अभयदान (जीवों की रक्षा करनी । उन्हें भय से व वध से बचाना) ।

४—विद्या-दान (ज्ञान देना) ।

ये चारों ही दान समान फलदाता हैं । परन्तु हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि जिस समय जिसकी ज़रूरत हो वह सबसे जियादा फलदाता है । अतः आज कल विद्या-दान विशेष करना चाहिए । विद्या-प्रचार के लिए हमारी समाज में बड़े बड़े विद्यालयों की ज़रूरत है, बड़े बड़े छात्रालयों की ज़रूरत है, निःस्वार्थी ज्ञानी पंडितों की ज़रूरत है, सम्यग्ज्ञानी गुरुओं की ज़रूरत है ।

ये सब बातें तभी हो सकती हैं जब कि दान की मात्रा बढ़े । अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह कुछ न कुछ दान करके पश्चात् मुख में ग्रास डाले । इससे अपना दान व्रत का पालन होगा और समाज का भी कल्याण होगा । नित्य प्रति चतुर्विध दान करने का अवसर देखते रहना चाहिए । विद्या-दान के लिए कुछ न कुछ द्रव्य निकाल कर भोजन करना उचित है । पश्चात् दिन भर जब जिस दान का अवसर आवे तब करना चाहिए । वर्तमान में हमारी लक्षाधीश बहिनें विधवा निपुत्री होने पर पुत्र मोल ले लेती हैं और उसको लाड़ प्यार से पालकर खूब मालामाल कर देती हैं । परन्तु शोक है कि वह पुत्र बड़ा होने पर उस माता का कुछ भी आदर नहीं करता किन्तु गाली-गलौज मारपीट कर नाना कष्ट देता है । जो धन बड़ी कठि-

नता से संचय किया था उसको नाना प्रकार के दुर्व्यसनों में उड़ा कर सामने फूँक देता है—यह लीला प्रत्यक्ष नित्य दिखाई देती है। सब लोग इससे परिचित हैं, विशेष लिखना व्यर्थ है। इसलिए हमारी विधवा बहिनों को चाहिए कि सभ्य जगत् का दृष्टान्त लेवें और अपनी समस्त संपत्ति को एक एक उपयोगी दान में लगा कर लौकिक पारलौकिक सुखों की भोक्ता बनें, तथा अपने यशरूपी पुत्र को छोड़ने का यत्न करें। दानी की कीर्ति संसार में अटल रह कर परलोक में सुखदायिनी होती है।

पाठिका बहिनो! पुराणों में कितने ही दृष्टान्त दान के माहात्म्य के आप लोगों ने पढ़े होंगे। एक एक राजा महाराजा जो व्रत तपादि नहीं कर सके हैं और अचानक मृत्यु की गोद में चले गये हैं उनको भी स्वर्ग तथा भोग भूमि इस दान के फल से ही मिली थी। निःस्वार्थ होकर एक बार भी यदि उत्तम दान दिया जावे तो उसका फल असीम होता है, कई भव तक पुण्य की गठरी साथ रहती है। दान देने से लोभ घटता है और लोभ कम होने से कर्मबन्ध भी कम होता है, इससे उत्त-रोत्तर आत्मा हलका बनता जाता है और एक दिन अवश्य ऐसा आता है कि आत्मा अनन्त सुखरूप मोक्ष का पात्र हो जाता है। पूर्वकाल में हमारे यहाँ जैसा योग्य दान होता था वह पुराणों से प्रत्यक्ष विदित है। परन्तु अब भी कोई देश, कोई जाति दान-शून्य रह कर अपना कल्याण नहीं कर सकती। इसका दृष्टान्त सुनिए:—

हम पहले यह ख़याल करते थे कि योरूपादि देशों में धन ज़्यादा है वहाँ के मनुष्य भारत के समान दुःख नहीं उठाते होंगे। परन्तु एक बार जब पंडित लालन विलायत आदि स्थानों से घूम-कर आये और उन्होंने एक सभा में वहाँ का वर्णन सविस्तर मय प्रमाणों के यथार्थ सुनाया तो मेरे ख़याल के विरुद्ध कुछ और ही निकला। उनका कहना था कि उन देशों में कितने ही लोग ग़रीब भी हैं, जैसे यहाँ के भिखमंगे। ऐसी दशा में वहाँ के दान-वीर मनुष्य ही इनका बेड़ा पार करते हैं। विशेष कर बड़े बड़े घर की स्त्रियाँ सड़क पर खड़ी हो जाती हैं और स्वयं माँगना शुरू करती हैं। बड़े आदमी की लज्जा से जो मनुष्य सड़क से निकलता है कुछ न कुछ देता जाता है। बस धीरे धीरे घन्टे दो घन्टे में इन परोपकारिणी स्त्रियों के चरणों के निकट रुपये पैसों का ढेर लग जाता है और तब ये उस द्रव्य को उन कंगालों को बाँट कर घर चली आती हैं। यह कार्य नित्य सैकड़ों मनुष्य करते हैं। तब वहाँ के ग़रीब जीवन का निर्वाह कर सकते हैं, वरना दो दिन में ऐंठ कर रह जावें। कहिए पाठिका बहिनो! उन धनाढ्य स्त्रियों को दान से कितना प्रेम है, जो पर के लिए भीख माँगती हैं। बस हमारी समाज का उद्धार भी दान से ही होगा। आप लोगों को चेतना चाहिए और धन को दान में लगाकर आनन्द मनाना चाहिए।

आपका यथार्थ दान ज्ञान दान है, इसमें सदा सावधान रहिए। बुद्धिपूर्वक दान करना अपना मुख्य कर्तव्य समझिए। उत्तमोत्तम

ग्रंथ तैयार कर बाँटना, ज्ञानी जनों की सेवा करना बड़े बड़े विद्यालय, बड़े बड़े विद्याश्रम खोलना ही ज्ञानदान है। भोग भी यथार्थ ही होने चाहिए। वर्तमान के भोग भोग नहीं, रोग हैं। यह पहले दिखला दिया गया है कि इन रोगों से पिण्ड छुड़ा कर सत्यता का आश्रय लेना उचित है। उचित अवस्था होने पर बच्चों का विवाह करना चाहिए। सब से ज़्यादा द्रव्य उनकी शिक्षा में लगाना उचित है तथा पुत्र-पुत्री दोनों को विद्वान् विदुषी बनाना ही अपना मुख्य कर्तव्य समझना चाहिए।

आभूषण आदि वित्त के अनुसार साधारण ढँग डौल के बनाओ। वित्त से बाहर धन इनमें फँसा कर दुःख उठाना बड़ी मूर्खता है, क्योंकि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' कपड़े भी हलके बनाओ। शोक है कि बारह महीनों में जिन बहिनों को सब समय पूरे भोजन का ठिकाना भी नहीं है वे भी विदेशी शिल्क, फुलवर ख़रीदने से नहीं हिचकतीं—यह बात ठीक नहीं है। विदेशी नाज़ुक वस्तुओं में रुपया मत फँसाओ, देशी टिकाऊ वस्तुओं को काम में लाओ। यदि धनवती हो तब भी यह घमण्ड छोड़ दो कि हम बड़े मालदार हैं। जब तक सारी समाज धनवती नहीं है तब तक तुम भी ग़रीब ही हो।

विवाह समय के देन लेन तथा जीमन के नुकते सबको हलका करना हमारे लिए परमावश्यकीय कार्य है। जब तक इनकी मात्रा कम नहीं होगी तब तक धनाभाव प्रत्येक गृहस्थ का

कदापि नहीं मिट सकता। वर्तमान में प्राय: पुत्रियों का जन्म महा संकट गिना जाता है। इसका मुख्य कारण देन दाहिजा है। हाथ धोओ ऐसे दाहिजे से जिसके कारण अपनी संतान भारी हो रही है। इसके अतिरिक्त जब तक इन कामों से रुपया नहीं बचाया जायगा कदापि विद्या शिक्षा के लिए ठिकाना नहीं हो सकता। जाति के अगुओं को चाहिए कि केवल थोड़ी सी पूजन की सामग्री और एक जीमन (जौनार) में ही विवाह का काम पूर्ण कर देवें। यदि कोई अमीर कुछ खरचे बिना नहीं रह सकता तो वह रुपया, आभूषण जो कुछ देना चाहें विवाह बाद कन्या व वर को दे देवे; परन्तु विवाह के समय हज़ारों का लेन करके जाति की रीति नष्ट नहीं करनी चाहिए। ग़रीब भाई देखादेखी करके मर मिटते हैं। उनको सतपथ दिखलाना बड़ों का काम है।

भारतवासी कभी फ़क़ीर के फ़क़ीर नहीं रहे हैं, बरन धर्म धन गौरव बचाने के लिए समय समय पर यथेष्ट उपाय करते ही गये हैं तभी अनेक राजाओं के राज्य का शासन, अनेक धर्म, अनेक विरुद्ध वस्तुओं के संयोग होने पर भी अपने धर्म, कर्म स्वभाव से नहीं डिगे। जब देखा कि मुग़ल बादशाहों का अत्याचार है, वे लोग कुमारी कन्याओं को बलात् ले जाते हैं तो झट बाल-विवाह की रीति एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब धर्मवालों ने चला दी। इसके लिए कितने ही ग्रंथ लिख डाले, अनेक आपत्तियाँ उठाईं, परन्तु अंत में ऐसा कर ही दिया कि

कुमारी कन्या कोई दीखती ही न थी। इसके अतिरिक्त विद्या में भी वही कौशल दिखाया। राज्यभाषा को जीवन होम कर भी ऐसी कठिनता से अभ्यास किया जिसको देखकर विदेशवाले चकित हो जाते हैं। स्वधर्म-प्रेम का कहना ही क्या है। इसकी रक्षा के लिए भी नये नये उपाय किये। संस्कृत के समय प्राकृत में ग्रंथ रचना की, प्राकृत के समय संस्कृत में, फिर गिरते गिरते जो भाषा चालू रही उसी में अनेक ग्रन्थ रच डाले; इत्यादि इत्यादि उपायों से ही हमारा पृथक् भाव संसार में आज तक बना है। वरना कभी के विदेशवालों में मिल जाते—अपनी सत्ता खोकर नष्ट-भ्रष्ट होकर संसार से नाम उठा देते। क्या ये सब काम पूर्वजों के ही न थे? अब हम लोगों को क्या समयानुकूल सुधार व रीति-रिवाज में हेर फेर नहीं करना चाहिए? अवश्य करना चाहिए। दिल खोल कर जो जो कार्य बुरे हैं उनको उठा देना चाहिए। जैसे फ़िज़ूलख़र्ची, बालविवाह, कन्याविक्रय, स्त्रियों को न पढ़ाना, वेश्यानृत्य ये सब तमाशे अब आप लोगों को नहीं शोभते। इनको बंद करके समयानुकूल शिक्षा में पदार्पण करना चाहिए।

अपने धर्म, कर्म बचाने के नवीन नवीन उपाय न सोचना एक दिन पतित होना दिखा रहा है। नवीन संतान के हृदय बिगड़ते जाते हैं। न अब उनके हृदय में अपने धर्म का महत्त्व है, न जाति का ख़याल है, धड़ाधड़ विदेशी चमक पर दीपक पर पतंग की तरह गिर रहे हैं, इसमें नवयुवकों का दोष ही क्या

है, जब उनके लिए घर में योग्य साधन ही नहीं हैं तब संतोष किये पेट पकड़े कहाँ तक बैठे रहें ? लपट झपट कर अन्याय मार्ग पर दौड़ जाते हैं।

बस, पाठक पाठिकावृन्दो ! इन सबको सुमार्ग पर लगाना तुम्हारे ज्ञान और वित्त पर ही निर्भर है। इसलिए आप लोगों को अपना ढंग ठीक करना चाहिए।

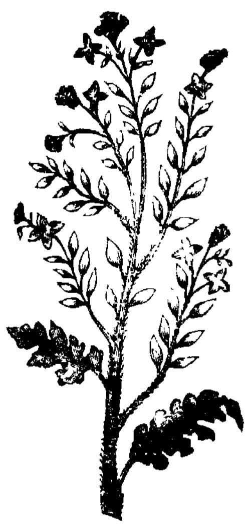
इस लेख के यथार्थ दर्शन में संक्षेप से आप लोगों ने वे बातें पढ़ी होंगी जो आपके धन, धर्म को बचावें, धन को योग्य दान व भोग में ही लगावें, नाश से बचाये रहें।

इस प्रसंग में एक बात यह और ध्यान देने योग्य है कि द्रव्य की बाढ़ रोक देने से भी वह नष्ट हो जाता है। यह रोग भी हमारी समाज में खूब फैला है। एक मनुष्य ज़रा धनवाला हुआ कि बाल-बच्चों ने आगे का व्यापार छोड़ा, गद्दी तकिया लगाकर आराम करना ही धनिक अपना काम समझ लेते हैं। इसका फल यह होता है कि सैकड़ों घरों का दिवाला निकलता रोज़ दिखाई देता है। सारा व्यापार देश से निकल गया।

एक पैसे की दिआसलाई, एक चीनी का खिलौना, एक लेम्प तक सब बाहर से लेने पड़ते हैं। यह अवस्था साक्षात् नाश को पुकारती है। अतएव बालकों को आराम न सिखाकर व्यापार सिखाना चाहिए।

कहा है—"व्यापारे वसते लक्ष्मीः।"

अन्तिम सारांश यह है कि न्याय से आलस्यरहित होकर धन पैदा करना और फिर उसे ज्ञानपूर्वक दानभोग में लगाना ही रक्षा का मूल है। यावत् सम्पूर्ण त्याग न बन सके तब तक द्रव्य को सदुपयोग में लगाना चाहिए।



स्वदेश-सेवा ।

प्रिय सुज्ञ बहिनो ! सेवा शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ? इसको विशेष समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भारत की बहिनों का यह सहज धर्म है।

अपने पूर्वाचार्यों ने स्त्री में इस गुण का होना परमावश्यक बतलाया है। वास्तव में बात भी यही है। जैसी सेवा-शुश्रूषा स्त्रियाँ कर सकती हैं वैसी पुरुष-समाज से नहीं हो सकती।

सेवा करना हमारा मुख्य धर्म है। भारत की महिलाएँ नित्य प्रति देवताओं की पूजा सेवा करके अन्न ग्रहण करती हैं। तथा अहर्निश कुटुम्बियों की सेवा में लगी रहती हैं। थोड़ी सी इनी गिनी धनाढ्य बहिनों को छोड़ कर समस्त गृहस्थ-स्त्रियाँ प्रातःकाल शय्या पर से उठते ही गृह-कार्य में लग जाती हैं, और उनकी इस सेवा के बल से ही पति-पुत्रादि भोजन-पान से निवृत्त होकर आजीविका-साधन व विद्या-लाभादि के लिए बाहर जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रियों में सेवा

करने का अभ्यास स्वयमेव हो जाता है। जिस प्रकार फल, फूल, पत्ते सबका वास्तविक सार वृक्ष का मूल भाग ही है, उसी प्रकार सेवा की जड़ स्त्रियाँ हैं। जैसी सेवा-परायणा भारत की देवियाँ होती हैं वैसी योरोपादि विदेश-वासिनी स्त्रियाँ नहीं होतीं।

हमारे यहाँ की गृहिणी अपने आपको दासी मानती हैं और इसी भाव से सदा सेवा करती रहती हैं। पूर्वकाल में हमारी बहिनें केवल कुटुम्ब-सेवा ही नहीं करती थीं वरन् स्वदेश के प्रत्येक कार्य में भाग लेती थीं।

परन्तु अब वह समय नहीं है। इस समय हमारी सेवा ने अत्यन्त संकीर्ण स्वरूप धारण कर लिया है। आज भी भारत उन अङ्गों से, जिनकी सेवा स्त्रियाँ करती हैं, किसी देश से कम नहीं है। परन्तु जिन जिन अभागे अङ्गों की स्त्रियों ने उपेक्षा कर रक्खी है उन्हीं उन्हीं अङ्गों से अत्यन्त दुःखी होकर प्रायः मरणावस्था में है।

हम लोगों ने देश की सेवा, धर्म की सेवा, बिलकुल ही छोड़ रक्खी है। इसी कारण पुरुषों के अनेक यत्न करने पर भी सुधार होना असाध्य हो रहा है। दिनों दिन कुरीतियाँ बढ़ती जाती हैं।

स्त्री-समाज का मूर्खत्व देश के उत्थान की जड़ को भीतर ही भीतर बुरी तरह से काट रहा है। स्त्रियाँ चेतेंगीं तभी इस अधो-गति से उबार होगा:—

माताये अगर चाहें तो, यह देश सुधर जाय ।
यह देश सकल फिर भी विकट वीरों से भर जाय ।
यह दीन दशा हिन्द की, जानें न किधर जाय ।
फिर हिन्द के बल, तेज से संसार दहर जाय ॥

—वीर पंचरत्न

प्रिय सुज्ञ बहिनो ! उठो, मातृभूमि को माता से कम मत समझो । इसकी सेवा करना भी अपना मुख्य कर्म है । तुमने अपनी कौटुम्बिक सेवा को ही पर्याप्त समझ लिया है । परन्तु वास्तव में वह पूरी नहीं है ।

जब तक देश की सेवा में हम लोग सहायिका न होंगी, यह कठिन कर्तव्य पूरा नहीं हो सकता ।

परन्तु इस बात का विचार अवश्य रखना चाहिए कि जिन जिन साधनों से पुरुष स्वदेश-सेवा कर रहे हैं उन्हीं उपायों से हम लोग कृतकार्य नहीं हो सकतीं । यद्यपि देश-सेवा के अनेक अङ्ग हैं, परन्तु वर्तमान में सर्वसाधारण स्त्रियाँ दो मार्गों से समुचित और सामयिक सेवा भलीभाँति कर सकती हैं । पहला मार्ग इतना सरल और सुसाध्य है कि प्रत्येक पढ़ी अन-पढ़ी छोटी, बड़ी, ग़रीब, अमीर सभी बहिनें उस पर सुख से चल सकती हैं । वह क्या है ? स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार । बहिनो ! विदेशी वस्तुओं ने हम लोगों का कैसा सर्वनाश किया है, इसका उल्लेख एक दो नहीं वरन् दश-बीस ग्रन्थों में किया जाय तब भी पूरा होना कठिन है ।

इसका दिग्दर्शन मात्र आपको 'देश-दर्शन' आदि पुस्तकों के पढ़ने से हो सकता है। इस संक्षिप्त वर्णन में इतना ही कहना काफ़ी होगा कि विदेशी वस्तुओं ने हरे-भरे भारत को उजाड़ बना दिया है। इसका सबसे प्राचीन कला-कौशल नष्ट हो गया। मनुष्य निठल्ले हो गये और घर घर में अन्न-वस्त्र का टोटा पड़ गया। इस समय अपने देश में कितनी महँगी बढ़ गई है, इसका विशेष उल्लेख करना निरर्थक है।

सभी बहिनें जानती हैं कि जितने खाद्य-पदार्थ (घी-दूध-चावल-दाल-गेहूँ-चना इत्यादि) २० वर्ष पहले एक रुपये में आते थे उतने खाद्य का अब चार रुपये में भी आना कठिन हो रहा है। प्रति वर्ष आवश्यक वस्तुओं की कमी से भारत-सन्तान क्षीण-शरीर होती जाती है।

दिन भर मज़दूरी करके भी देश के मज़दूरों को भर पेट अन्न नहीं मिलता। एक बार चना-चबेना, और एक बार रूखा-सूखा भोजन करना ही इन लोगों का समस्त खान-पान है। ऐसी अवस्था में ये लोग जिस यम-यातना का सामना करते हैं उसको ये ही जानते हैं।

भोजन-सामग्री तो दिन पर दिन अलभ्य होती रही थी इधर गत यूरोपीय महासमर ने वस्त्रों का भी अभाव कर दिया।

कितने ही पत्रों में प्रकाशित हुआ है और कितने ही लोगों ने प्रत्यक्ष आँखों से देखा है कि सैकड़ों ही कुल-वधुएँ वस्त्रा-

भाव से घर के बाहर नहीं निकलतीं। कितनी ही लज्जा के कारण जल कर भस्म हो गईं।

बहिनो! यदि हम मुद्दतों से विलायती कपड़ों के भक्त न होते तो आज यह दशा क्यों होती!

हम लोग सैकड़ों वर्षों से अपने खेतों में रातदिन परिश्रम से उपार्जित की हुई रुई को ४ सेर या ६ सेर के भाव से बेंच कर यूरोप भेज देते हैं और वहाँ से उसी रुई के खासे झूने मलमल आदि बन कर आते हैं। उन को २०) रु० सेर से २५) रु० सेर तक (एक एक थान) खरीद कर बड़े प्रेम से पहिनते हैं। इसी का यह परिणाम हुआ कि देश का समस्त व्यवसाय नष्ट-भ्रष्ट हो गया। हमारे यहाँ के नवयुवक आधा जीवन नौकरी की खोज में बिता देते हैं। चूँकि सब चीज़ें विदेशों से आती हैं, इसलिए देश में काम बहुत कम है।

प्रिय बहिनो! समय के अनुसार इस समय हम स्त्रियों को उचित है कि फिर भारतभूमि को हिरण्यगर्भा करने के लिए अपने स्वार्थ का समूल त्याग कर दें। चिकन, रेशमी आदि विलायती कपड़ों को जलांजलि देदें। विवाहादि उत्सवों में भी, मोटे-महीन जैसे उपलब्ध हों अपने देश के बने कपड़ों से ही काम चलावें। इसी प्रकार विदेशी साबुन, तेल, कंघी, चूड़ी आदि वस्तुओं को छोड़ कर देशी चीज़ें काम में लानी चाहिए।

बहुत सी बहिनों का मत है कि देशी वस्त्र इतने बढ़िया नहीं मिलते जिनको पहन कर हम तीर्थयात्रा, मंदिर, सभा-

सोसाइटी, विवाह शादी आदि में जाकर सम्मानपात्र हो सकें। परन्तु बहिनों का यह ख़याल भ्रमात्मक है। देखिए महात्मा गाँधी और उनका सारा कुटुम्ब देशी, हाथ के बने, मोटे कपड़े पहनता है। क्या उनका सम्मान कम है? कदापि नहीं।

कितनी ही बहिनें कहती हैं कि ये बातें पुरुषों के आधीन हैं। परन्तु यह बात भी मिथ्या है।

विदेशी वस्तुओं के व्यवहार करने का अधिकांश पाप स्त्रियों के ऊपर ही है। हम लोग ही बाहर की चीज़ों की चमक-दमक पर मोहित होकर पुरुषों को ख़रीदने के लिए विवश करती हैं। यदि वनिता-समाज दृढ़प्रतिज्ञ हो जाय तो कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। वरन् हमारे देश के व्यापारियों का उत्साह और द्रव्य—बढ़ जायगा और ये लोग सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं की माँग पूरी करने लगेंगे।

स्त्रियों के लिए साधारणतः यही पहली देश-सेवा है। इसे स्वयं स्वीकार करके मिलने-जुलने वाली बहिनों को भी बताना चाहिए।

जिस समय हमें और हमारी संतान को स्वदेशी वस्तुएँ प्रियतर हो जायँगी, सारा देश समृद्धिशाली हो जायगा। सैकड़ों धन-कुबेरों का धन बैंकों से निकल कर कल-कारख़ानों में लग जायगा। असहाय भारतीयों की आजीविका का द्वार खुल जायगा। सहस्रों प्रतिभाशाली पुत्र तरह तरह के आविष्कार निकाल कर जननी की सेवा करने लगेंगे।

स्त्रियों के लिए देश-सेवा का दूसरा मार्ग क्या है ? वह है नारी-समाज में शिक्षा-प्रचार । स्व शक्ति के अनुसार देश की बहिनों में शिक्षा का प्रचार करना भी परम व्रत है ।

हमारी भोली-भाली बहिनें यह समझती हैं कि हम तो स्वयं ही अयोग्य हैं, किस प्रकार किसी को सुशिक्षिता बनावें । परन्तु ये पोच विचार हैं । ये ठीक नहीं । इन विचारों ने महिला-जाति की बहुत कुछ अवनति कर दी है । अब इस प्रकार गिरने से काम न चलेगा ।

यदि माता गिरने के भय से कभी बच्चे को खड़ा ही न होने दे तो वह अपाहिज हो जायगा । उसी प्रकार यदि हम लोग अपनी शक्ति को काम में नहीं लाएँगी तो उसका विकाश होना असंभव हो जायगा । भारतवर्ष में केवल पाण्डित्य की ही आवश्यकता नहीं है वरन् विशेष आवश्यकता है जीवन-निर्वाह की । यदि सब मनुष्यों को अपना अपना जीवन सुख और शान्ति से बिताना आ जाय तो बड़ी ही सरलता से भारत सुख-सम्पन्न हो जाय तथा सहज ही यहाँ से समस्त कुरीतियाँ तथा दु:ख कूच कर जायँ ।

इस समय हमारे देश की बहिनें "मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति" इस कहावत को बिलकुल ही सार्थक कर रही हैं ।

कभी किसी गाँव के खेत पर या एक बगीचे के कुएँ पर तनिक विश्राम लेकर देखिए;—दस-बीस बच्चों की नंगे भूत की सी मूर्तियाँ आकर खड़ी हो जायँगी ।

इन बच्चों के सिर के बाल आँखों में गिरते हैं, नाक टपक कर मुख में जाती है, हाथ पैर कीचड़ से सने रहते हैं। ये सब दृश्य देख कर वेदना से मानों हृदय शतशः—खण्ड होने लगता है। यदि इन बच्चों की माताएँ कुछ भी सभ्या होतीं तो ऐसी दुर्गति कदापि न होती।

धनाभाव से ग्रामीण बहिनों को भोजन-वस्त्र की कमी हो सकती है, परन्तु बालक को स्नान करा कर स्वच्छ रखने में, केश साफ़ करने में, चाल-चलन और बोल-चाल सुधारने में, किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है केवल स्वकर्त्तव्य-निष्ठ होने की।

बस, इन्हीं सब बातों का उपदेश हमारी अनपढ़ और अनभिज्ञ स्त्रियों को सदा देना चाहिए।

यदि अवकाश और योग्यता हो तो आस पास के ग्रामों में, क़सबों में जा जा कर स्त्रियों को समझाना चाहिए। जब कभी तीर्थ-वंदनादि के लिए जाना हो तब वहाँ भी स्त्री-समाज में शिक्षा का प्रचार करने पर पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए।

अपना सेवक हो, ग़रीब हो, रंक हो, फ़कीर हो, सहृदयता और उदारतापूर्वक सबका हित करना ही सच्ची सेवा है।

"परोपकार चित्तानाँ वसुधैव कुटुम्बकम्"।

इस वचन के अनुसार 'मैं' और 'तू' का भेद छोड़ कर सबका हित करो। भोली-भाली बहिनों को समझाना चाहिए कि वे अपने बच्चों को स्वच्छ रक्खें। उनके केश आँखों में पड़ कर

जन्म भर के लिए अन्धा बना देते हैं। इसलिए उनको सदैव साफ़ रख कर स्वास्थ्ययुक्त बनावें। गाँव भर में जो एक दो ब्राह्मण भी पढ़े-लिखे हों तो उनके पास उन्हें पढ़ने के लिए भेजें। परमात्मा का भक्त बनावें, जिससे वे पापों से बचते रहें। अपने हाथों से कपड़े सीं कर पहनावें जिससे स्वल्प-व्यय में ही बच्चों का शरीर ढका रह सके। अपनी बहिनों को इन्हीं सब बातों का उपदेश देना और स्वयं भी इनको बर्तना यही हमारी परम देश-सेवा है। यदि एक बहिन के प्रयत्न से १० बहिनों ने भी इन बातों पर ध्यान दिया तो देश की उन्नति में कुछ भी समय नहीं लगेगा। वर्तमान समय में स्त्री-समाज का हृदय उतना घृणित और अन्धकार-मय नहीं है जितना कि उनके अभ्यास घृणित हो रहे हैं। बड़ों की आज्ञा का पालन करना तथा उनके हितार्थ निरन्तर परिश्रम करना हमारी बहिनें बड़ी सहृदयता से करती हैं। परन्तु इतना अध्यवसाय करने पर भी परिजनों एवं जन-समुदाय को हमसे यथेष्ट लाभ नहीं होता। इसका कारण केवल हमारा अज्ञानाच्छादित व्यवहार ही है। यदि हम अपने व्यवहार की सुई फेर दें तो क्षण भर में मिनटों के घण्टे और घण्टों के मिनट बन सकते हैं। यद्यपि इस समय भी भारत के कितने ही अज्ञ लोग स्त्रियों को केवल भोगोपभोग की सामग्री समझते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

अपने प्राचीन पूज्य महर्षियों ने माता को परम-पूज्य स्थान दिया है। संसार की अखिल भाषा को उलट-पुलट कर सबसे

प्रिय और पवित्र शब्द एक मात्र—'माता,' 'माँ,' 'मैया,' 'मामा,' या 'मादर,' ही निकाला है।

पूर्वाचार्य जिस वस्तु को सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोपयोगी समझते थे उसी में मातृभाव की स्थापना करते थे।

पृथ्वी को जगत् का मूल या आधार समझ कर उसे स्त्री-लिङ्ग मानते हुए, 'माता' कहा है। गो को विश्वपोषणकारिणी समझ कर "माता" शब्द से सम्मानित किया है। इसी प्रकार प्रकृति देवी ने भी स्त्री-संसार को सर्वस्व सौंप दिया है। सन्तान का समस्त संगठन और आपत्तिकाल माता के भरोसे पर ही निर्भर है। दस मास का भारी उत्तरदायित्व भी माता के ऊपर ही है, जब कि पिता के लिए केवल १० मिनट काफ़ी है। इस प्रकार संसार की मूलभूता हमारी बहिनें यदि अपने नित्य-प्रति के व्यवहार को स्वार्थ-रहित, शुद्ध और सुयोग्य नहीं बनावेंगी तो समस्त भारत के मूल में घुन लग जायगा। जब तक अपना भार हम लोग स्वयं न लेंगी, कदापि हमारी दशा नहीं सुधर सकती। "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" इस वाक्य के अनुसार क्या हम लोग स्वर्ग से भी प्यारी जन्म-भूमि की सेवा करने की अधिकारिणी नहीं हैं? अवश्य हैं।

यदि अपनी प्रतिज्ञा दृढ़ रख सकें तो महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा विशेष कार्य कर सकती हैं। अपना प्राचीन इतिहास वीर माताओं को कैसा अमरत्व प्रदान कर रहा है? जसवन्तसिंह

की रानी महामाया ने अपनी वैधव्य-अवस्था में भी औरङ्गज़ेब से कैसा बदला लिया था और निहत्थी होकर भी किस प्रकार अपने छोटे पुत्र की रक्षा की थी ? उस समय सैकड़ों स्वकर्तव्य-निष्ठ राजपूत बिना किसी वेतन के केवल महारानी की आज्ञानुसार सेना में भरती हो गये और मुग़लों के साथ भीषण युद्ध कर के भले प्रकार बदला ले लिया। इसी प्रकार महाराजा पृथ्वीराज की पत्नी किरणदेवी का नाम भी भारत की माताओं के लोकोत्तर गौरव को बढ़ा रहा है। जिस समय मुग़ल शाहंशाह अकबर छद्मभाव से नौरोज़ का मेला कराता था और उसमें समस्त माननीया कुलवधुओं को बेगमों के पास आने के लिए बाध्य करता था, उस समय भारत की सती देवियाँ बड़ी भारी विपत्ति में थीं। क्योंकि इस मेले में किसी पुरुष को जाने की आज्ञा न थी; परन्तु अकबर स्वयं बेगमों के वेष में छिपा रहता था और चाहे जिस रमणी पर मनमाना अत्याचार करता था। यह बात शनैः शनैः लोगों को ज्ञात होने लगी; परन्तु इसका प्रतीकार किसी से कुछ न बना।

एक मेले में विवश होकर किरणदेवी को भी जाना पड़ा। यह महिलारत्न वीरपत्नी अपने साथ एक छुरा ले गई और केवल एक दासी के साथ ही मेले में पहुँच गई। इधर उधर घूमते घामते छद्मवेशी अकबर पर ज्यों ही नज़र पड़ी कि उसकी भारी आवाज़ से उसको शीघ्र ही पहचान लिया और उसके दाँव-घात से पहले ही स्वयं उसे पछाड़ कर उसके हृदय में छुरा भोंकने का सामान

कर लिया। अकबर इस अबला के परम बल को देख कर भौंचक सा हो गया और प्राणदान की भिक्षा माँगने लगा।

भारत की नारियाँ जितनी वीर होती हैं, उतनी ही अगाध क्षमा भी रखती हैं। हिन्दू-रमणी की दया की तुलना हो नहीं सकती। हिंसा से भयभीत होना भारत का स्वाभाविक धर्म है। अतएव, देवी ने अकबर को क्षमा कर अभयदान दे दिया और बदले में कई वचन लेकर सदा के लिए नौरोज़ का मेला बन्द करा दिया।

बहिनों! इसी प्रकार पूर्व समय में अनेकानेक स्त्रियों ने स्वदेश के लाभार्थ अगणित कार्य किये हैं। इस समय उन्हीं की सन्तान होने के कारण हम लोगों का भी धर्म है कि अपने देश के धन-धान्य, धर्म-कर्म, गुण-गौरव और सम्मान की रक्षा करें।

इस समय हमारी बहिनों में शिक्षा और विद्या की नितान्त कमी हो गई है। इसी कारण अपने कर्त्तव्य का ज्ञान प्रायः नष्ट हो चला है। जो बहिनें शिक्षिता हो चुकी हैं या हो रही हैं, उनमें विदेशी अभ्यास इतने बढ़ते जाते हैं कि जिसके कारण लाभ के स्थान में हानि हो रही है। पढ़ी-लिखी बहिनों को उचित है कि वे अपने देश के व्यवसाय को बढ़ावें। धर्मानुकूल चलें। प्राचीन विद्या और कला-कौशलों को चमकावें। परन्तु वे वर्तमान में इसके विपरीत करती हैं। विदेश के बने, विदेश के सिले, विदेश ही के साँचे में ढले हुए वस्त्रों को, जूतों को और

आभूषणों को पहनती हैं। भारत की दो पैसे की कंघी को छोड़ कर एक रुपये के विलायती कंघे से केश सँवारती हैं। भारत के तिल, सरसों, नारियल आदि के तेल को छोड़कर मिट्टी के तैल से तैयार किये गए हुए मस्तिष्क को हानि पहुँचाने वाले, विलायती तेलों और लेवेंडरों को लगाती हैं। विदेशी साबुनों को काम में लाती हैं। विदेशी खिलौने बच्चों के लिए खरीदती हैं। करोड़ों रुपये का विदेशी माल स्त्रियों के भोगोपभोग में प्रति वर्ष खपता है।

कहाँ तक कहा जाय विदेशी अभ्यासों ने हमारी विलासिता इतनी बढ़ा दी है कि भारत ऐसे कृषि-प्रधान देश के लिए कदापि सहनीय नहीं है। जिस देश में नित्य आप अपने पड़ोस में सैकड़ों बुढ़ियों को आटा पीसकर एक बार के भोजन से जीवन-निर्वाह करते देख रही हैं, जहाँ सदैव किसी न किसी प्रान्त में भयानक दुर्भिक्ष से सैकड़ों बच्चे मरते और बिकते हैं, उस देश की निवासिनी शिक्षिता बहिनों को विदेशीय विलासिता में द्रव्य व्यय करना एवं विदेशी फ़ैशनों में समय बरबाद करना शोभा नहीं देता। अब इस भयानक रोग को हटाना ही ठीक है।

जिस प्रकार रोगी मनुष्य का रोग दो कारणों से दूर होता है। एक अन्तरङ्ग और दूसरा बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग का कारण अर्थात् दैनिक सावधानी यानी रोज़ाना परहेज़ या नित्य नैमित्तिक संयम और बाह्य कारण ओषधि सेवनादि।

इसी प्रकार देश-सेवा के भी उभय अङ्ग हैं। यद्यपि द्वितीय कारण हमारे अधीन नहीं है बल्कि हमारे अधिकारिवर्ग के अधीन है तो भी अन्तरङ्ग देश-सुधार सर्वथा हमारे अधीन ही है। हमारे सुचारु अभ्यासों पर निर्भर है।

अतएव, हमारी देश-सेवा यही है कि हम स्वयं अपने और अपनी सन्तान के अभ्युदय का प्रबन्ध करें।



स्त्रियों में उच्च विद्या।

उच्च विद्या किस तरह प्राप्त होती है और इसका होना स्त्री-समाज में आवश्यक है या नहीं ? इस प्रश्न पर अब तक जैन-जाति ने विचार ही नहीं किया। यदि इने-गिने कितने एक बन्धुओं का विचार भी हुआ तो केवल इतना ही कि कन्याओं को साधारण विद्या सिखानी चाहिए, जिससे वे घर का हिसाब-किताब कर लें और चिट्ठी-पत्री लिख लें। परन्तु इन संकुचित विचारों से ऊपर लिखा हुआ प्रश्न हल नहीं हो सकता।

पढ़ना-लिखना व शिक्षा पाना केवल घर के बही-खाते के लिए ही नहीं है, न धन कमाने व उपाधियों से विभूषित होने के लिए ही है। वरन् जीवन को ज्ञानमय एवं तेजोमय बनाने के लिए है। तथा सुपथगामी और आत्मोद्धारी बनाने के लिए है।

ये बातें अधूरी शिक्षा से नहीं हो सकतीं। यह तेजोमय जीवन उच्च विद्या से विभूषित होनेवाले को ही प्राप्त होता है।

बहुज्ञानी होकर ही यह आत्मा अपना और पर का कल्याण कर सकता है।

जिस प्रकार मरणासन्न सन्निपातवाले रोगी को कस्तूरी और चन्द्रोदय की एक दो पुड़िया लाभ नहीं पहुँचा सकती, उसी प्रकार जड़-मूल से कुरीतियों में फँसा हुआ मनुष्य थोड़े से ज्ञान सम्पादन से अपना हित नहीं कर सकता। जिस प्रकार रोग का प्रकोप और औषधि-सेवन का फल स्त्री-पुरुष दोनों को एक साथ ही कष्ट एवं आनन्द देता है, उसी प्रकार अज्ञान और शिक्षा भी उभय जनों के लिए इष्टानिष्ट है। जिस प्रकार पुरुष-समाज में विद्वान् मुखियों के बिना साधारण जनों का उद्धार नहा होता, उसी प्रकार विदुषी बहिनों के विना स्त्री-समाज का उत्थान भी नहीं हो सकता।

वर्तमान में स्त्रियों में धार्मिक वा लौकिक दोनों तरह की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के साधनों का अभाव पाया जाता है। कोई भी चिह्न ऐसे नहीं दीखते जिन से शिक्षा के समावेश की सम्भावना हो। इसी से कहना पड़ता है कि जैन-समाज में उपर्युक्त प्रश्न ही नहीं उठा है और न उस पर वाद-विवाद करके कुछ अमली कार्रवाई की गई है।

यदि हमारे धनाढ्य महाशयों का ध्यान इधर होता तो आज जगह जगह स्त्री-शिक्षा-भवनों के झंडे फहराते हुए दिखाई देते जैसे कि श्रीमन्दिरों के दीखते हैं। यदि विद्वानों का भी ध्यान इधर झुकता तो इस समय स्त्रियों के योग्य अनेक उपयोगी

पुस्तकों का संग्रह नज़र आता, जैसा कि अन्य सभ्य जातियों में है। परन्तु इन बातों की सर्वाङ्गीण पूर्ति तो बड़ी दूर है। कहीं चर्चा तक सुनाई नहीं देती। यही कारण है कि शिक्षिता बहिनों का अभाव सा हो गया है। यदि यही तार कुछ दिनों तक और रहा तो बड़ी हानि की सम्भावना है।

इस परिवर्तनशील संसार में वृद्धि और ह्रास ये दोनों बातें सदा होती रहती हैं। जहाँ उन्नति नहीं है वहाँ अवनति अवश्य होती है। ऋषियों का वाक्य है—

"चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च"।

बहिनो! अब पहली बारी नहीं है। इस समय क्षति का पतनाला धड़ाधड़ जारी है। अब की मनुष्य-गणना से मालूम होता है कि दिनोंदिन जैनियों की जन-संख्या भयानक तरह से घटती जाती है। और प्रत्यक्ष में भी धन-धान्य और सौभाग्य आदि सबका ह्रास प्रति दिन दिखाई देता है।

इस पतन में आधा भाग स्त्री-जाति का अवश्य है। यदि स्त्रियाँ सुशिक्षिता नहीं हुईं तो आधी क्षति का रुकना तो असम्भव ही है, वरन पुरुष-समाज की भी हानि नहीं रुक सकती।

इस कष्टमय समय के सदृश सदैव नेताओं को शिशु-रक्षण, शील-रक्षण, सत्पात्रदान, शुद्धाचरण, फ़िज़ूलख़र्ची-निषेध इत्यादि तरह तरह के विषयों पर चिल्लाते रहना होगा। और, स्त्रियों के उच्च शिक्षा पाये बिना यह एक भी कार्य न होगा। जैसे

हलके और सदा पानी पर तैरने का दावा रखनेवाले शोला के बकस भी, टूटे जहाज़ के साथ साथ, समुद्र में डूब जाते हैं, उसी तरह मूढ़ माता की गोद में बैठी भारत-सन्तान ग़ारत हो जायगी। जब तक हम लोग अपने तन-मन-धन को उलटी तरह से काम में लाना छोड़ कर, सीधे तरह से उपयोग नहीं करेंगी तब तक हमारी गिरी दशा नहीं सुधर सकती।

प्रथम ही हमारे मन में उच्च विद्या के लिए उच्च उत्कट अभिलाषा होनी चाहिए।

जिस प्रकार पूर्वकाल में विद्याधर बिना विद्या साधे अपना कार्य-निर्वाह नहीं कर सकते थे उसी प्रकार हम लोग भी ८-१० वर्ष अध्ययन-तप किये बिना कार्य-निर्वाह नहीं कर सकतीं। यह विचार प्रत्येक गृहिणी के हृदय में होना चाहिए। अपनी समाज में धन की कमी नहीं है, न परोपकारियों का ही अभाव है। केवल हितकर विचारों की कमी है।

बहिनो! हम लोगों को विद्या और शिक्षा के समय पुत्र-पुत्रियों में भेदभाव न करना चाहिए।

यद्यपि शिक्षा का ढँग एवं मार्ग भिन्न भिन्न प्रकार का होना उचित है तो भी पुत्रियों के विषय में कृपणता और संकोच न करना चाहिए।

दोनों को भरपूर शिक्षा देनी चाहिए।

प्रत्येक विषय में सन्तान को प्रौढ़ पण्डिता बनाना माता मात्र का परम धर्म है।

हमने अपनी सैकड़ों बहिनों को उस समय दहाड़ मार मार कर रोते देखा है जब कि वे ८-१० वर्ष की छोटी सी अबोध पुत्री को पति के साथ गृहिणी बनने के लिए भेजती हैं और कितनी ही स्त्रियों को उस कष्टमय समय पर हृदय--विदारक विलाप करते देखा है जब कि उनकी अल्पवयस्का पुत्री वैधव्य-दुःखसागर में डूब जाती है। परन्तु इतने पर भी बहिनें अपनी अपनी पुत्रियों का अवस्थापन्न (पूर्णवयस्क) होने पर विवाह करने का दृढ़ प्रयत्न नहीं करतीं और न किसी उचित स्थान पर शिक्षा पाने के लिए भेजने का साहस ही करती हैं।

एक पुत्री के लिए रोती हैं और दूसरी के लिए फिर उसी बन्धन का संगठन करती हैं।

खास पुत्रियों के विवाह में प्रत्येक वर्ष में जैन-समाज का लाखों रुपया खर्च हो जाता है, लाखों रुपये का विदेशी सिल्क (रेशमी कपड़ा) खरीदा जाता है। बहुत सा द्रव्य वेश्यादिकों को दे दिया जाता है। यदि इस में से एक चतुर्थांश भी बालिकाओं की शिक्षा में लगाया जाय तो हमारे यहाँ ऐसे कई बड़े बड़े कन्या-महाविद्यालय हो सकते हैं जहाँ सर्व प्रकार की स्त्रियोचित शिक्षा पाकर हमारी बहिनें स्व-पर-कल्याण भलीभाँति कर सकती हैं।

इस समय के लिए बहुत आवश्यक है कि हमारे सुज्ञ विज्ञ भाई और बहिनें कटिबद्ध होकर स्त्रियों के लिए ऐसी उपयोगी संस्थाएँ स्थापित कर दें जिनकी स्निग्ध छाया में लालित-पालित होकर पुत्रियाँ बड़े बड़े कार्य कर दिखावें। आज भी

अन्य देशों में और अन्य समाजों में ऐसे ऐसे कर्मवीर मौजूद हैं जिन्होंने एक एक विद्यालय स्थापित करने में अपनी समस्त सम्पत्ति दे डाली है।

अनेक महिलाएँ भी ऐसी हैं जिन्होंने कितनी ही सुपाठ्य पुस्तकें रच डाली हैं।

अपने यहाँ भी पूर्वकाल में विद्या-देवी की आराधना अद्भुत रीति से सम्पन्न होती थी। विद्या-प्रचार के लिए ही **अकलंक निष्कलंक** देवों ने बौद्धों की पाठशाला में घोर कष्ट सहे थे।

यदि वही विद्या-प्रेम एक बार फिर दो चार महानुभाव आत्माओं में आ जाय तो किसी बात की कमी न रहे। इन लोगों ने अपने जीवन को भयानक विपत्ति में डाल कर परदेश और पर-जाति में जाकर विद्या सीखी थी। किन्तु आज कल जैन जाति में लोग अपने घर के विद्यालय तथा आश्रमों में भी अपनी सन्तान को भेजने में बड़ा कष्ट पाते हैं।

धनी मानी जनों को कोई स्थान शिक्षा के योग्य उत्तम नहीं जँचता। इसलिए प्रिय पुत्र-पुत्रियों को आँखों के आगे से अलग नहीं करते और केवल जगह जगह की असूया करते रहते हैं।

ग़रीबों में तो सामर्थ्य ही कहाँ है कि इतना अध्यवसाय कर सकें। तात्पर्य यह है कि सन्तान मात्र की शिक्षा-दीक्षा भ्रष्ट हो रही है।

बहिनो ! उठो इन पोच विचारों को छोड़ो । प्रकाश में आओ । विद्या की महिमा समझ कर सर्वस्व अर्पण कर दो । पुत्रियों के पढ़ाने लिखाने में ज़रा भी मत हिचको । प्रत्येक प्राणी को सुमार्ग पर लगाना अपना कर्त्तव्य है । और यह अमूढ़ दृष्टिनामक सम्यक्त्व का अङ्ग भी है । अज्ञान के घूँघट में मुख लपेटे सैकड़ों बहिनें रो रोकर समय काट रही हैं । कोई कहती हैं कि हम पढ़ी नहीं हैं । कोई कहती हैं कि हमारी समझ में नहीं आता । कोई कहती हैं कि हम मूर्खा हैं । इन अपशब्दों के लांछन को समाज से हटा कर उच्च कोटि की शिक्षा से सबको विभूषित कर दो ।



मनुष्य-जन्म की दुर्लभता और ज्ञान की योग्यता।

प्रिय वाचिका बहिनो ! आज मैं आपको इस विचार के चक्कर में डालती हूँ कि हमको मनुष्य-जन्म कितनी कठिनाइयों को पार करके मिला है और आगामी कब कब किस किस हालत में मिलने की संभावना है। हमारे आचार्यों का मत है कि संसारी जीवात्मा अनादि काल से अर्थात् सदा से इस दुनिया में घूम रहा है, क्षण क्षण में अपनी पर्य्याय बदलता रहता है, पर उसका नाश कभी नहीं होता। जिस तरह पानी कभी बर्फ़ हो जाता है और कभी भाप बन जाता है, परन्तु जल-स्वभाव नहीं छोड़ देता, उसी प्रकार यह जीवात्मा कर्मों के विद्यमान होने से कभी शेर, कभी गीदड़, कभी रंक, कभी राजा हो जाता है, परन्तु अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं छोड़ता। इतनी बात ज़रूर है कि एक दो पर्य्यायों में तो इसकी कुछ उन्नति भी नज़र आती है। शेष जन्मों में यह बिलकुल बुरी

गिरी हालत में ही रहता है । ये सब अवस्थायें इसकी करनी के अधीन हैं । जब पुण्य कर्म करता है तब देव मनुष्य आदि गति को प्राप्त होता है और पाप करता है तब नरक निगोदादि कुगतियों में पड़ कर बहुत कष्ट भोगता है । नरक की जो सात धरातल हैं उन में क्या हो रहा है ? इसका विचार करिए तब तो कलेजा काँपने लगेगा । नरक की सातों पृथ्वियों में क्रमशः दुःख बढ़ता है । कम से कम १०००० दश हज़ार वर्ष से लेकर ३३ तैंतीस सागर तक के घोर दुःखों को यह जीवात्मा सहता है । इसी प्रकार पापोदय से यह जीव निगोद में पड़ जाता है । तब तो एकेन्द्री तन से बहुत काल संसार भ्रमण करता है । एक साँस में जितना समय लगता है उतने समय में निगोदिया जीव १८ बार जन्म लेता है और मरण प्राप्त करता है । सिर्फ़ जन्म-मरण के दुःख भोगना ही उस पर्य्याय में जीवात्मा का काम रह जाता है । कोई काल लब्धि को पाकर इस पर्य्याय से निकल कर बड़ी कठनाई में उस पर्य्याय को ग्रहण कर सकता है । इस में भी दो इन्द्री, तेइन्द्री, चतुरेन्द्री, पंचेन्द्री-संनी, असेनी इस प्रकार एक एक आगे आगे की अच्छी दशा का पाना उत्तरोत्तर बहुत दुर्लभ है । इन सब कठिनाइयों को झेल कर बड़े शुभ कर्म के उदय से यह जीवात्मा दैवयोग से कभी मनुष्य-जन्म को पा लेता है । यहाँ मनुष्य-पर्य्याय में भी रोग, शोक, अंगों की विकलता, दरिद्रता आदि दुःखों में ही फँसा रहता है तथा विषय-कषायों के पोषण करने में अपना सारा समय खो देता

है। कोई शुभोदयवाला आत्मा उत्तम कुल और अच्छी संगति पाकर मनुष्य-जन्म के फ़र्ज़ को पूरा करता है। बहिनो! हम लोगों ने सब दर्जों को पार कर, सब कठिनाइयां को रद्द कर, अखीरी दर्जा यानी उत्तम कुल, शुभ संगति, अंगों की पूर्णता, इत्यादि पाई है। इस अवसर को वृथा न खोना चाहिए। क्योंकि प्रथम तो इस मनुष्य-जन्म की स्थिति बहुत कम है। सो भी आज कल तो भारत की भूमि पर जीवन बहुत ही तुच्छ हो रहा है। इसलिए अपना कल्याण शीघ्र करना चाहिए। अपने लिए उस मार्ग का आश्रय ग्रहण करना चाहिए जिससे इहलोक और परलोक दोनों में कल्याण हो। अब विचारने का मौक़ा यह है कि सबसे पहले मनुष्य को क्या करना चाहिए। सबसे पहले हमारा धर्म है कि सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करें। क्योंकि पहला कर्त्तव्य यही है। जैसे कहते हैं, **'ज्ञान बिना करनी दुखदाई'**। जब तक हमारे अन्दर ज्ञान नहीं है तब तक लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के कार्य हम ठीक ठीक कदापि नहीं कर सकते। आज कल जो जो ख़राबियाँ हमारे स्त्री-समाज में हो रही हैं वे सब ज्ञान के मन्द होने से ही हो रही हैं। हम लोग अपने अधिकारों को छोड़ती जाती हैं और अज्ञान के चक्कर में पड़ गई हैं। नहीं नहीं हमको मनुष्य-पर्याय में ज्ञान प्राप्त करने का पूरा अधिकार है। इस मनुष्य-पर्याय में ही केवल ज्ञान तक पहुँचने की योग्यता है, और गति में नहीं। संसार के नाना प्रकार के दुःखों को मिटा कर आत्मा को शान्तिसुख पहुँचानेवाला एक ज्ञान ही है, अन्य

कोई पदार्थ इस लोक मात्र में नहीं है। ज्ञानी आत्मा को इस लोक और परलोक दोनों का हाल अच्छी तरह मालूम रहता है, सच्चे धर्म पर पूरा विश्वास रहता है, जिससे वह कभी दु:खरूपी कीचड़ में नहीं पड़ता; और चाहे गृहस्थ हो अथवा त्यागी हो, सर्व अवस्था में, वह सुख व सुयश को पाता है। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि हमारी जैन-स्त्री-समाज में सम्यग्ज्ञान का विस्तार किस रीति से हो सकता है। प्रिय बहिनो! आज कल एक ही मार्ग नज़र आता है। वह यह है कि, हम लोग खूब विद्या पढ़कर, विदुषी होकर, जिन वाणी का स्वाध्याय करके उस पर पूर्ण विश्वास रखने से ही, ज्ञानी हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। जब तक उच्च विद्या पढ़ कर जिन वचनों को नहीं देखेंगी तब तक कदापि हम अपने कार्यों को भले प्रकार नहीं कर सकतीं। हमारा मुख्य धर्म यही है किसंसार में आकर, सबसे पहले, विद्या लाभ करके, शास्त्रों को पढ़ कर, अन्तरंग सुधारें। तब आगे किसी काम में क़दम बढ़ावें। वर्तमान में हमारी जैन-बहिनें यह नहीं समझतीं कि हमारा जैन-धर्म कैसा असाधारण धर्म है। इस धर्म को पाकर हमारा क्या कर्तव्य है। लौकिक में भी यह नहीं समझतीं कि पति के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए। पुत्र-पुत्रियों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए। बहिनो, इसी अन्ध-विचार से हम नष्ट-भ्रष्ट होते जाते हैं। ऐसे विचारों को बदल कर अब सुमार्ग में आना चाहिए और विद्या लाभ करके, सम्यग्ज्ञानी बन कर, संसार-यात्रा सफल करनी

चाहिए; अन्यथा और भी बुरा होगा। जैसे कहा है। श्लोकः—

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरः॥

इस मनुष्य-जन्म में अत्यन्त कठिन शास्त्र-ज्ञान द्वारा रत्नत्रय-स्वरूप ज्ञानको प्राप्त कर जो प्रमादी होता है वह बिचारा मनुष्य संसाररूपी भयानक वन में बहुत काल तक घूमता है। इसलिए, प्रमाद छोड़ कर, ज्ञान के साधन और ज्ञान के मार्ग प्रचलित करने चाहिएँ।

समय की उपयोगिता।

समय बड़ा विचित्र वस्तु है। संसार के परिणमन में यह सदैव सहकारी कारण है। बिना इसकी अनुकूलता के कोई भी कार्य्य होना असम्भव है। अतएव हम लोगों को चाहिए कि इसका पूर्ण रीति से सम्मान करें। जब यह जिस तरह से अनुकूल हो तब हम लोगों को भी इसके अनुकूल होना चाहिए। यदि ऐसा न कर इसके प्रतिकूल चलेंगे तो अवश्य हानि होगी। मान लीजिए कि विद्याध्ययन के लिए बालावस्था में तथा विशेष ज्ञान-सम्पादन के लिए युवावस्था में समय अनुकूल होता है, यदि उस समय मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और बुढ़ापे में विद्या पढ़े तो कदापि सफलीभूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि बचपन में व्यापारादि गृहस्थी के कार्य करे तो मनुष्य नहीं कर सकता, क्योंकि उस वक्त समय अनुकूल नहीं है। संसारी जीवों के जितने कार्य हैं सब योग्य समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को सदैव इसका विचार

कर अनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिए, वरन् छोटे से मानव-जीवन में धर्म्म-अर्थ-काम-मोक्ष में से किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। जो समय विद्याध्ययन का है उसमें पूर्ण परि-श्रम से विद्या पढ़नी चाहिए। छोटी सी उम्र में सन्तान की शिक्षा पूरी न कर केवल विवाहादि बन्धन में फँसाकर गृहस्थी का भार डाल देना, समय के साथ कुश्ती लड़ना है। इसमें मनुष्य की ही हार होती है और सारा जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार युवावस्था में नीति-शिक्षा ग्रहण करना, धन उपार्जन करना, परोपकार का कार्य करना, कुटुम्बपालन करना इत्यादि इत्यादि कार्य करने उचित हैं। यदि इनके प्रतिकूल केवल विषय-कषायों का ही पालन-पोषण किया जाय तो सुख नहीं मिल सकता, जैसे कि बहुत सी हमारी बहिनें तरुणावस्था में केवल कलह और आलस्य में ही समय खोती हैं तथा इन्द्रियों के विषय में ही लगी रहती हैं। उनकी तरुण-अवस्था केवल स्वप्न मात्र हो जाती है, झट से बुढ़ापा दबा लेता है। इसी प्रकार जो पुरुष अपनी युवा वय को केवल विषयवासना में ही समाप्त करते हैं वे कदापि सुख नहीं पाते। जो मनुष्य समय का आदर करना जानते हैं वे सहज ही में बड़े बड़े स्वपर-हितकारक कार्य कर लेते हैं, और जो आलसी समय का निरादर करता है वह पेट भर भोजन भी कठिनाई से पाता है। अतएव, सुज्ञ बहिनों एवं बन्धुओं को चाहिए कि समय को हाथ से न जाने दें। द्रव्य नष्ट होकर फिर कभी प्राप्त हो जाता है, परन्तु समय लौट कर

नहीं आता । प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन भर का तथा क्रमश: तीनों उम्रों का, और इस में भी दिन भर का, एक घन्टे का और एक एक मिनट का भी समय-विभाग (टाइमटेबिल) सदैव तैयार रखना चाहिए । इस टाइमटेबिल में अच्छे कामों का ध्यान रख उसी में समय लगाना चाहिए ।

यदि समय के सम्बन्ध में हम ज़रा भी सोच कर चलेंगी तो जीवन के अन्त में बुराइयों का टोटल बहुत कम होगा और बड़े बड़े कार्य सम्मुख दीखेंगे । वृद्धावस्था में सर्व वस्तुओं से मोह त्याग आत्मकल्याण करना उचित है, धन से भी मोह त्याग कर के उसे सुजन परिवार को बाँट और शेष धन विद्या-दानादि में लगा कर निश्चिन्त होकर धर्मध्यान करना चाहिए । तभी समय सफल होता है । वर्तमान में हमारी बहिनें वृद्धावस्था तक गृह-कार्य का तथा आमद-खर्च का भार बहू-बेटियों को नहीं देतीं, अपने ऊपर ही लादे रहती हैं और व्यर्थ में समय नष्ट कर कुगति की भागिनी बनती हैं । इससे न बाल-बच्चों को ही संतोष होता है, न बूढ़ी बहिनों को ही शान्ति मिलती है, आकुलता ही में समय पूरा हो जाता है ।

यही हाल बहुत से बूढ़ों का भी है कि चाहे वे कितना ही धन उपार्जन कर लें, चाहे कितने ही सुजन परिवारों का विवाहादि कर लें, परन्तु उनको शान्ति नहीं होती । वे अपना समय किसी स्वपर-कल्याण में नहीं लगा सकते । गोरखधन्धे में ही जीवन-लीला को समाप्त कर देते हैं । परन्तु बहिनो, यह

मनुष्य-जन्म ऐसा सस्ता नहीं है जिसका संपूर्ण समय इसी तरह नष्ट कर दिया जाय, वरन् समयानुकूल प्रवृत्ति रखने से ही सार्थक होता है।

शेष वय में संपूर्ण भार पुत्र पौत्रादि पर छोड़ कर परोपकार का कार्य करने में समय लगाना चाहिए, भगवत् भजन करना चाहिए। कठिन कमाई के धन को जब तक दानादि में न लगावे तब तक आनन्द का भागी मनुष्य नहीं हो सकता। जिस तरह कोई बड़े परिश्रम से प्रातःकाल से रसोई बनाकर दोपहर को खाना प्रारम्भ करना चाहे और उसी समय गर्दन पकड़ कर कोई निकाल दे तो केवल परिश्रम ही रह जाता है। उसी तरह स्वहस्त से दानादि किये बिना असली आनन्द नहीं मिलता। अतएव, समय विचार कर लाभ उठाने से किसी को वञ्चित न रहना चाहिए। क्या स्त्री, क्या पुरुष सब को समय का सदुपयोग करना अत्यावश्यक है।

शिक्षा।

बहिनो ! शिक्षा कैसी अद्भुत वस्तु है और यह मनुष्य का किस तरह से रूपान्तर कर देती है, यह लिखना मनुष्य-शक्ति से सर्वथा बाहर है। यहाँ केवल यही कहना बस होगा कि शिक्षा संसार के प्राणी मात्र के लिए उपयोगी है, सबके हृदय का अनमोल भूषण है, जीवन के आनन्द का स्रोत है, जीवन-यात्रा के लिए वाहन है। बहुत से वय:प्राप्त मनुष्यों का विचार है कि शिक्षा पुरुष के लिए ही उपयोगिनी है, स्त्रियों के लिए नहीं। परन्तु यह कहना नितान्त भूल है। जो उत्तम पदार्थ है वह सब के लिए ही गुणकारी है और जो बुरा है वह सबके लिए दुखदाई है। मिश्री पुरुष को भी मीठी लगती है और उसी प्रकार स्त्री को भी स्वादिष्ट लगती है। जिह्वा, नाक, कान आदि सब ही के एक सा कार्य करते हैं। इसी प्रकार शिक्षित अशिक्षित हृदय भी भले बुरे कार्य्य करते हैं। स्त्री तथा पुरुष दोनों एक सूत्र में बँधे हैं। इनका कार्य्य पृथक् पृथक् देखना

अज्ञान है । दोनों हृदयों के भावों से मिल कर जो भाव उत्पन्न होता है वही गृहस्थी का मूल मन्त्र होता है । इसी प्रकार दोनों शरीरों के अंश मिल कर सन्तान-स्वरूप प्रकट होते हैं; इसी प्रकार संसार में जो कुछ भी कार्यक्रम दीखता है उस में आधा हिस्सा स्त्रियों का है । चाहे किसी जगह प्रत्यक्ष में स्त्रियाँ विशेष कार्य न भी करती हों परन्तु प्रकृति के परिणाम में सदैव अर्ध भाग की स्वामिनी अवश्य रहती हैं । इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि शिक्षा यदि पुरुषों के लिए आवश्यक है तो स्त्रियों के लिए भी परमावश्यक है । केवल भेद इतना ही है कि कतिपय कार्य ऐसे हैं जिनकी शिक्षा स्त्रियों के लिए गौणता से और पुरुषों के लिए मुख्यता से होनी चाहिए तथा इसी प्रकार कितने विषय ऐसे भी हैं जिनका विवेचन स्त्रियों के लिए मुख्यता से और पुरुषों के लिए गौणता से होना चाहिए । परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि स्त्रियों को शिक्षा ही न दी जावे । संसार में एक कार्य पुरुषों के लिए अनावश्यक है तो दूसरा स्त्रियों के लिए अनावश्यक है । इसमें अपने अपने लक्ष्य की ओर विचार कर शिक्षा लेनी चाहिए । जिस तरह पुरुषों को बालक के स्तन पान कराने की शिक्षा दी जाय तो व्यर्थ ही है उसी तरह स्त्रियों को डाढ़ी बनाने की विधि सीखनी अनावश्यक है । परन्तु यह भेद-भाव कुछ शिक्षा का बाधक नहीं है । यह तो योग्यता का बाधक है । इससे घबड़ा कर पढ़ना, लिखना, शिल्पकला-कौशल, समस्त कार्यों को पुरुष के योग्य ही ठहराना और स्त्रियों को किसी

विषय की शिक्षा न देना, यह न्याय-सङ्गत नहीं है। वर्तमान में बहुत से अँग्रेज़ी-साहित्य का मनन करनेवाले मनुष्य तथा अन्यान्य उदार-हृदय नवयुवकगण मुख से तो स्त्री-शिक्षा की प्रशंसा कर देते हैं परन्तु सच्चे हृदय से उपाय नहीं करते। अपनी माता, बहिनों तथा स्त्री की शिक्षा में वैसा यत्न नहीं करते जैसा कि पुत्रादि की शिक्षा में करते हैं। यद्यपि भारत के स्त्री-पुरुष सभी जन अधिकांश शिक्षा से कोसों दूर रहते हैं तथापि पुरुषों के लिए यह प्रश्न सबके दिल में हल हो चुका है कि पढ़ना-लिखना शिक्षित होना हमारा काम है। परन्तु स्त्रियों के लिए अभी वचन मात्र की सहायता भी नहीं मिलती। यदि एक शहर में कोई कर्मयोग से एक दो स्त्रियाँ कुछ शिक्षा प्राप्त करने का साहस करती हैं, कोई ढंग निकालती हैं, तो झुण्ड के झुण्ड शत्रु खड़े हो जाते हैं। सबसे सीधा मार्ग यह कर रक्खा है कि झट से किसी तरह का कलंक उसके माथे मढ़ कर चारों ओर से निन्दा की दुन्दुभि-ध्वनि उसके कानों तक पहुँचा देना। यह अबलाओं का धैर्य नष्ट कर देती हैं। ये बेचारी निःसहाय अपनी अपकीर्त्ति से जल कर घर में निकम्मी होकर बैठ जाती हैं।

इसी प्रकार यदि कोई बहिन अपने थोड़े से ज्ञान और अनुभव से कोई उपकारी कार्य स्त्री-समाज के लिए खोलती है तो उसमें त्रुटियों का विवेचन होने लगता है। यहाँ तक कि कुछ न कुछ कलंक की दक्षिणा वहाँ भी पहुँच जाती है और इससे घबड़ा कर बेचारी संचालिका पंख सकोड़ने लगती है। जिस

कार्य के बढ़ाने की चिन्ता में रात-दिन समय जाता था उसी के समेटने की चिन्ता पड़ जाती है। बन्धुगणो! इन्हीं सब घटनाओं को देख कर कहना पड़ता है कि स्त्री-शिक्षा का सत्य प्रेम अभी समाज के हृदय में नहीं उत्पन्न हुआ है। यह जो कुछ वचनमात्र का प्रलाप सुनाई देता है वह केवल मात्र प्रेमाभास है। प्रिय सुज्ञ बन्धुओ! सत्य हृदय में सत्य वस्तु की खोज कीजिए। स्त्री-शिक्षा कितनी आवश्यक है, इस बड़े प्रश्न को सदैव ध्यान में रखिए। जब तक पुरुषगण इस विषय में तन, मन, धन का हवन नहीं करेंगे तब तक कदापि ज्ञानान्धकार हट नहीं सकता।

यदि प्रत्येक योग्य आय-व्ययवाला मनुष्य यह नियम करले कि मैं अपनी पुत्री को किसी न किसी विद्या में उच्चपद अवश्य दिलाऊँगा तथा संसार के शिक्षितों में इसकी भी गिनती कराऊँगा तो ५ वर्षों में एक चौथाई हिस्सा तथा १० वर्षों में आधा हिस्सा और २० वर्षों में सारी नारी-समाज शिक्षित हो सकती है। पुरुषों में भी अशिक्षितों की संख्या का कारण स्त्री-शिक्षा का ही अभाव है। बच्चे को स्तन-पान करते करते शिक्षामृतपान करना आवश्यक है। माता अपने दुग्धामृत की घूँट के साथ शिशु को समस्त जीवन का ढंग पिला देती है। अतएव बन्धुओ! अब आलस्य का समय नहीं है, अपनी अपनी स्त्रियां, बहिनों और पुत्रियों के विद्या-लाभ के लिए पूर्ण प्रयत्न कीजिये। धार्म्मिक ज्ञान के हेतु विद्यालय छात्रालय खोलिए। अथवा, जो खुले हैं उनकी सहायता कीजिए। उनमें अपनी

संतानों को भेजिए। सावधान होकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार कीजिए। एक **बुद्धदेव** ने अपना धर्म्म समस्त ऐशिया में फैला दिया था और उसी प्रकार **अकलंकदेव** ने चद्दर की तरह हटा दिया था। उसी शक्ति की आवश्यकता इस समय फिर पड़ी है। उलझा हुआ काम वीरों से ही सुलझता है, एक में यह शक्ति कहिए कि काल के प्रभाव से नहीं है, तो दस बीस जनों का डेपुटेशन कहिए–कमीशन कहिए–कोई एक शक्ति समूह का सञ्चार कीजिए कि एक बार स्त्री-शिक्षा भारत में योग्य रीति से फैल जाय। एक बात यह भी है कि यह शिक्षा-क्रम रुकने का नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता ज़ोर कर रही है। इस ज़माने में चुप रहने से उलटी शिक्षा फैल जायगी और उसको हटाना फिर साध्य नहीं होगा, क्योंकि नीतिकारों का कथन है कि जड़ समझ सकता है परन्तु जड़वक्र नहीं समझता। अभी तक हम लोग जड़स्वरूप ही हैं परन्तु कालान्तर में जड़वक्र होने का अवसर आने पर फिर सुधार नहीं हो सकेगा।

अभी धार्मिक शिक्षा के साथ साथ लौकिक शिक्षा का क्रम चल कर सुख की वृद्धि कर सकता है परन्तु फिर नहीं। फिर तो जो नवयुवकों की अवस्था है उससे शतगुण बढ़ी स्त्रियों की हो जायगी। शिक्षा के अभाव से हानि तथा सद्भाव से जो लाभ है उनका वर्णन करना यहाँ पर व्यर्थ ही है। सब लोग जानते ही हैं। श्रद्धा तथा परिश्रम का ही अभाव है, इसी के लिए हमारी याचना है।

प्राचीन आदर्श महिलाएँ।

१

हमारे जैनाचार्यों ने शास्त्रों में कथायें कितने निष्पक्ष-भाव से और कितने सत्यभाव से लिखी हैं—यह बात प्रत्येक सच्चे मनुष्य को भली भाँति ज्ञात है। सत्यता और निःस्वार्थता को ऐसा स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक पूर्वाचार्यों के वचन को हम लोग स्वयं जिनेन्द्र की वाणी समझते हैं। इस कारण हमारे यहाँ पुराणों में जो जो छोटी बड़ी कथायें हैं वह एक एक सच्चा वृत्तान्त हैं, अर्थात् पूर्व का इतिहास हैं। जैन जाति का वर्तमान में ऐतिहासिक अवस्था ठीक नहीं है; परन्तु तो भी दो हज़ार वर्ष पहले का इतिहास पुराणरूप में पाया जाता है। बड़े गौरव की बात है कि हमारे इतिहासों में सिर्फ़ पूज्य पुरुषों का ही कथन नहीं बल्कि अनेकानेक जैन-महिलाओं को भी बड़ी भारी पूज्य पदवी दी है। एक एक रमणी ऐसे ऐसे कार्य कर गई हैं, जिनकी देवों ने पूजा की है और जिनके चरित्र से तथा जिनके शील से आज तक भारतवर्ष ऊँचा बना हुआ है

संसार में सब जगह की स्त्रियों में सद्गुणवाली देवी होती रही हैं, परन्तु शील व्रत को जिस दर्जे तक जैन-महिलाओं ने पाला है वह दर्जा सबसे अद्वितीय है। आज इसी प्रसंगानुकूल एकस्त्री-रत्न की कथा संक्षेप से पाठिका बहिनों की सेवा में अर्पण करती हूँ:—

वत्सदेश में **रौरकपुर** नगर था, जिसका राजा **उद्दायन** और रानी **प्रभावती** थी। एक समय राजा किसी शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने रण पर गये थे और प्रभावती रानी धैर्य के साथ घर पर धर्म-कर्म सम्पादन करती हुई दिन व्यतीत करती थी। उसी समय रानी की धाय मन्दोदरी (जो कि संन्यासिनी हो गई थी) अन्य बहुत सी संन्यासियों के साथ नगर में आई और प्रभावती से मिली। इसके साथ रानी प्रभावती का धर्म-विषय पर बहुत वाद-विवाद हुआ और अन्त में रानी से हार कर संन्यासिनी निरुत्तर होकर चली गई। विवाद में हारने के कारण वह बहुत क्रोधित हो गई थी। इससे रानी का एक सुन्दर चित्र खींच कर उज्जैनी के राजा **चन्द्रप्रद्योत** को जा दिखाया। वह देखते ही आसक्त हो गया और उसको यह भी मालूम था कि प्रभावती अकेली है, इसका पति लड़ाई पर गया है। अब क्या था! कामी, अज्ञानी जीव क्या क्या नहीं करता है? यह चन्द्रप्रद्योत बहुत सी सेना सहित रौरकपुर आ पहुँचा। नगर से बाहर ठहर कर एक अति चतुर मनुष्य उसने प्रभावती देवी के चित्त को चलायमान करने के लिए भेजा। दूत ने प्रभावती के सामने अपने *स्वामी के रूप-सौंदर्य के साथ साथ अनेक गुणों की खब*

प्रशंसा की। परन्तु उस सती का मन-सुमेरु कब हिल सकता था? उसने कहा भाई! उसके गुणादिक से मुझे क्या मतलब है। मेरे तो उदायन को छोड़ कर और सब पुरुष, पिता, पुत्र, भाई के तुल्य हैं। इत्यादि कह कर दूत को नगर से निकलवा दिया और नगर के क़िले पर अपनी सेना ख़ूब प्रबन्ध के साथ बैठा दी। यह सब वृत्तान्त सुनकर चन्द्रप्रद्योत ने युद्ध करना प्रारंभ किया।

कहिए भगिनियो, इस समय आप सोच सकती हैं, कि प्रभावती पर कैसा कष्ट पड़ा। पति का संग्राम ख़तम भी न हो पाया कि अपने पर भी एक दुष्ट का आक्रमण हो गया परन्तु रानी प्रभावती बड़ी विदुषी और धर्मपरायणा थी। सेना का प्रबन्ध तो प्रथम ही कर दिया था, अब वह अनशनादि की प्रतिज्ञा करके जिनमंदिर में बैठ गईं और दृढ़ चित्त से भगवत्-आराधन करने लगी। इस पुण्य से एक देव ने जो कि आकाश से जा रहा था चन्द्रप्रद्योत को उसके घर लौटा दिया और कौतुकवश परीक्षा करने के लिए आप स्वयं चन्द्रप्रद्योत का रूप धारण करके प्रभावती रानी के पास मन्दिर में आया और ऐसा दर्शाया कि मानो लड़ाई में सब सेना को हराकर अब रानी के साथ दुराचार करना चाहता है। इसने अनेक पुरुष-विकार-सम्बन्धी नाना तरह की कुटिलतायें कीं, परन्तु उस शील-मण्डिता रानी के चित्त को रञ्च-मात्र चलायमान न कर सका। अन्त में हार कर अपना असली वेश प्रगट किया और संसार में घोषणापूर्वक प्रगट कर दिया कि प्रभावती

महा शीलवती है। राजा उद्दायन रण से लौटने पर इन सब समाचारों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। अन्त में अपने पुत्र को राज्य देकर **श्रीवर्द्धमानस्वामी** के समवशरण में दीक्षा ले ली और घोर तप करके अष्ट कर्म का नाश कर मोक्ष प्राप्त की। रानी प्रभावती भी पति के सदृश दीक्षा लेकर अर्जिका हो गई और परम तप तपकर अन्त में समाधि-मरण कर ब्रह्मस्वर्ग में देवी हुई। धन्य है इस प्रभावती का शील जो देव से विकृत नहीं हुआ! धन्य है इसका धैर्य जो अकेली रणाधिपति बनकर मन्दिरजी में ध्यान लगाया! धन्य है इसका त्याग जो अर्जिका हो सर्व त्याग कर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ हुई। भगिनियो! हम भी इन्हीं की सन्तान हैं। हमको भी यदि स्त्री-पर्याय प्राप्त है, तो पूर्व ललनाओं की भाँति इसे सफल करना अपना कर्तव्य है। अब विद्या-शिक्षा से अरुचि करते करते बहुत सा समय निकल गया, पशुवत् हालत बहुत रह चुकी और तप-संयम से बहुत विमुख हो चुकी, अब भी चेतना चाहिए। अपना कल्याण करके जगत् के लिए अपनी चरित्ररूपी कुछ सामग्री छोड़ जाना चाहिए। मैं आशा करती हूँ कि भगिनियाँ इन कथाओं से कुछ लाभ अवश्य उठावेंगी और शास्त्र-सम्मत होने के कारण पूर्ण विश्वास करेंगी। कथा का पूर्ण खुलासा पुण्याश्रव पुराण में है।

२

इस संसार में मनुष्य-पर्याय के मुख्य दो भेद हैं—एक पुरुष,

दूसरा स्त्री। ये दोनों गृहस्थ के मानव-जीवन-संगठन के दो अंग हैं और सारे गृहस्थाश्रम की व्यवस्था इन्हीं पर निर्भर है। स्त्री का आधार पति है । गृहस्थी का आधार स्त्री है। जिस घर में सुयोग्य गृहिणी है वह कभी निराधार नहीं होता । उस घर में थोड़े विभव में ही सारे कुटुम्ब को सुख-संतोष की वृद्धि होती रहती है। और जिस घर में स्त्री मूर्खा, आलस्यपरायणा, कलहकारिणी है वह घर शीघ्र हीन दीन दशा को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। जिस तरह बिना नींव का वा कच्ची नींव का मकान देखते देखते नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है उसी तरह सुयोग्य गृहिणी के अभाव से गृहस्थी डगमगा कर नष्ट हो जाती है। वर्तमान में इस विषय का ज्ञान बहुत कम लोगों को है। परन्तु हमारे पूर्वाचार्यों ने भलीभांति इस विषय को दृढ़ किया है कि, गृहस्थ को बिना सुयोग्य गृहिणी के यथेष्ट सुख कदापि नहीं मिल सकता। दान, धर्म, अतिथि-सत्कार, संतान-रक्षण, कुटुम्ब-पोषण इत्यादि कामों में अकेला पुरुष प्रवेश नहीं कर सकता। सम्पदा से सांसारिक सुख मिलते हैं। सम्पदा की शोभा स्त्री को लक्ष्मी कहा गया है।

अब कहिए बहिनो! इतनी बड़ी मानवपर्याय पाकर और अपार जंजालरूप गृहस्थी का आधारभूत होकर भी यदि हम लोग अपने को विद्यावती, सुशिक्षिता, धर्मपरायणा, साहसधारिणी, उदारचित्ता न बनायें तो क्या कभी स्वपर-हित-साधन करके अपना जीवन सफल कर सकती हैं? कदापि नहीं। आज हम और हमारे भाई समझते हैं कि स्त्रियों का शिक्षिता होना न्याय-

संगत नहीं है । उच्च विद्या, उच्च शिक्षा पुरुष-पर्याय का भाग है । परन्तु ऐसा विचार करना हम लोगों का भ्रम है । हम में यह सब शक्ति विद्यमान है, परन्तु ऊपर से शिक्षा न मिलने के कारण सब दबी रहती हैं और भाग्यवश किसी को मौक़ा मिल जाता है तो यह सब गुण व्यक्त (प्रगट) भी हो जाते हैं । देखिए, स्त्री का चित्त कैसा उदार होता है । एक रसोई-मात्र का ही दृष्टान्त लीजिए । गृहिणी रसोई बनाती है । और नाना तरह के व्यञ्जन स्वहस्त से बनाकर सारे कुटुम्ब को सानन्द खिलाती है । पीछे से बचा-खुचा आप खाती है । यदि उसमें भी कमी होगई तो कुछ खेद नहीं करती बल्कि समस्त कुटुम्ब, पति, पुत्र आदि के भरण-पोषण में ही सारा समय बिताती है । कहिए, यह कितना बड़ा स्वार्थ-त्याग है ? लाखों रुपये की पिता की दौलत तथा लाखों का पति का ऐश्वर्य होते हुए भी हमारी भारत-भगिनियों को उसकी परवाह नहीं रहती ? थोड़े वस्त्राभूषण में ही बहुत सा संतोष कर लेती हैं । पूर्वकाल में कैसी कैसी पण्डिता, चतुरा, पतिव्रता, स्त्री-रत्न हमारे ही वंश में उत्पन्न हो गई हैं जिनका अनुकरण करना निज निज शक्ति-अनुसार सब बहिनों का कर्तव्य है तथा उस मार्ग का अवलम्बन करना हमारे प्रत्येक बन्धु का कर्तव्य है । इसी प्रकार गृहस्थ धर्म की सेवा करके और अनेक जीवों को लाभ पहुँचा कर, सन्तान की सुरक्षा कर, वीर मोक्ष-मार्गी पुत्र को पैदा करके, जिस देवी ने अपना कल्याण किया था उसकी कथा संक्षेप में, संकेत मात्र, यहाँ पर कही जाती है ।

"इसी आर्यखण्ड में मगध देशस्थ राजगृह नगर में **उपश्रेणिक** राजा राज्य करते थे। उनको एक दिन दुष्ट घोड़ों ने भाग कर एक बड़े वन में गिरा दिया। वहाँ पर राजा के साथी कोई भी न थे। उस वन में एक **यमदंड** नामक क्षत्री रहता था। उसने राजा की बहुत सहायता की और उसके एक बड़ी रूपवती सुशीला कन्या थी जिस पर मोहित हो राजा ने क्षत्रिय से कहा कि मेरे साथ कन्या का विवाह कर दो। यमदंड ने यह प्रतिज्ञा करवा कर कि, "मेरी पुत्री से जो पुत्र पैदा होगा उसी को राज्य देंगे" अपनी पुत्री का विवाह उपश्रेणिक महाराज से कर दिया। वह बड़ी प्रसन्नता से घर आकर वास करने लगे। कुछ दिनों में इसी स्त्री से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम **चिलातीपुत्र** रक्खा गया। राजा के और कई रानियाँ थीं, जिनसे कई और भी पुत्र पैदा हुए थे। सबमें उत्तम बहु-गुणी उपश्रेणिक के **श्रेणिक नामक** पुत्र था। एक दिन ज्योतिषी द्वारा राजा को यह मालूम हुआ कि मेरे राज्य का अधिकारी श्रेणिक पुत्र होगा। यह जान कर और चिलातीपुत्र को राज्य देने का वचन निष्फल होता जान उन्होंने श्रेणिक कुमार को कुछ दोष देकर राज्य से निकाल दिया।

यह श्रेणिक बड़े विद्वान्, स्त्री-परीक्षक और पराक्रमी थे। अनेक देशों में पर्यटन करते करते नन्दीग्राम नामवाले नगर के सभामण्डप में आये। यहाँ एक इंद्रदत्त वणिक से मिले और उससे मामा का रिश्ता जोड़ कर "मामा"!! पुकारने लगे। इन्द्रदत्त भी पर-

देशी था। इसलिए श्रेणिक और वे दोनों वहाँ से चले। रास्ते में कई जगह टिके। वहीं एक बौद्ध गुरु से **जठराग्नि** का उपदेश भी मिला, जिससे श्रेणिक बौद्धधर्मी हो गया। (इसको रानी चेलना ने जैनधर्मी बनाया था।) रास्ते में श्रेणिक ने इन्द्रदत्त से कहा कि (१) मामा! हम लोग दोनों जिह्वा के रथ पर बैठ कर चलें। (२) फिर आगे चल कर जल भरा तालाब देख कर श्रेणिक ने जूते पहिन लिये तथा (३) वृक्ष के नीचे छाता लगा लिया। (४) फिर और आगे मनुष्यों से भरे ग्राम को देख कर पूछने लगा कि यह गाँव बसा है या उजड़ा। (५) इसी तरह एक स्त्री को उसके पति द्वारा डाँटते देख कर पूछा कि यह स्त्री खुली है कि बन्द। (६) एक मुर्दे को देख कर पूछा कि मामा यह अभी मरा है या पहले से ही मरा था। इत्यादि. कई गूढ़ प्रश्न किये, जिनको सुनकर इन्द्रदत्त कुछ नहीं बोला और समझने लगा कि यह पागल है। अन्त में शहर के निकट एक तालाब पर श्रेणिक का साथ छोड़कर वह घर को चला गया। इन्द्रदत्त के एक बड़ी गुणवती, रूपवती, नन्दश्री नाम की पुत्री थी। वह पिता को देख, उठकर, विनय सहित प्रणाम कर, पूछने लगी कि पिताजी आप अकेले ही आये हैं या कोई साथ भी आया है! पिता ने कहा कि पुत्री एक बड़ा रूपवाला युवा मेरे साथ साथ शहर के बाहर तक आया है, पर दुःख की बात है कि उसकी बातचीत से वह पागल मालूम होता है। नन्दश्री ने कहा कि पिताजी वे बातें क्या हैं? कृपाकर कहिए। इन्द्रदत्त ने श्रेणिक

के सब प्रश्न पुत्री से कह सुनाये। उसने कहा, पिताजी ! वह युवा पागल नहीं, बल्कि बड़ा चतुर होगा, उसकी परीक्षा करनी चाहिए--

(१) जो उसने जिह्वा के रथ पर चलने की बात कही थी उसके अर्थ बातचीत के हैं वार्तालाप में थकावट नहीं होती ।

(२) जल देख कर जूते इसलिए पहिने कि जल में काँटे आदि नहीं दीखते ।

(३) वृक्ष पर कौवे आदि की बीट का भय ज़ियादा होगा, अतएव छाता लगाया होगा ।

(४) मनुष्यों से भरे गाँव में आप लोगों ने भोजन सत्कार पाया हो तो उसे बसा हुआ समझें नहीं तो ऊजड़ समझना चाहिए ।

(५) स्त्री यदि विवाहिता है तो बँधी और व्यभिचारिणी है तो खुली समझनी चाहिए ।

(६) मनुष्य यदि यशवाला था तो जानना चाहिए कि अभी मरा है और अपकीर्तिवाला था तो समझो कि पहले ही से मरा था। इस प्रकार सब प्रश्नों का उत्तर उस बुद्धि-मती नन्दश्री ने पिता को समझा कर भ्रम दूर कर दिया। अन्त में श्रेणिक की परीक्षा करने के लिए और भी उपाय किये। एक दासी को बहुत थोड़ा तेल देकर तालाब के पास बैठे श्रेणिक के पास भेजी और कहला भेजा कि इस तेल को लगा कर स्नान कर मेरी स्वामिनी के घर आना। दासी श्रेणिक महा-राज के पास गई। तब उन्होंने झट ज़मीन पर गड्ढा करके

उसमें जल भर कर, उस पर तेल रखवा लिया। उसी तेल को लगा कर स्नानादि कर श्रेणिक महाराज (दासी के बताये अनुसार) नन्दश्री के यहाँ गये। मार्ग में कीचड़ बहुत थी। उससे श्रेणिक महाराज के पैर सन गये थे। नन्दश्री ने एक कटोरी में बहुत थोड़ा जल लाकर दिया और कहा कि इससे पैर धो कर भीतर चलिए। श्रेणिक ने प्रथम पैरों की कीचड़ सूखी झाड़ डाली और पीछे थोड़े जल से पैर धोकर भीतर चले गये। फिर नन्दश्री ने और कई परीक्षाएँ कीं। सब में श्रेणिक महाराज को चतुर पाया। तब नन्दश्री ने कहा कि आप आज मेरे यहाँ ही भोजन कीजिए। श्रेणिक महाराज ने इसके उत्तर में कहा कि आज मेरे लिए पराये घर का अन्न त्याज्य है। इसलिए मैं तुम्हारे घर का भोजन नहीं कर सकता। मेरे पास आँचल में बँधे बहुत थोड़े चावल हैं। यदि इनसे तुम व्यञ्जन तैयार कर दो तो मैं खा सकता हूँ। नन्दश्री ने उन चावलों को पीस कर बड़ी चतुराई से पूये तैयार कर दासी के हाथ बिकवा दिये. इन पूओं के सुघड़ सुन्दर आकार पर प्रसन्न होकर नागरिक लोगों ने अच्छे दाम भी दिये। इन दामों से नन्द-श्री ने सामग्री ख़रीद कर बहुत प्रकार के व्यञ्जन बनाकर श्रेणिक महाराज को भोजन कराया। अन्त में परस्पर परीक्षा होने से दोनों का मन प्रसन्न हुआ और इन्द्रदत्त ने नन्दश्री का विवाह श्रेणिक महाराज से कर दिया। ये दम्पती अत्यन्त सुख से रहने लगे। इनके अभयकुमारादि संसार के परम हितैषी

पुत्ररत्न पैदा हुए। अन्त में वर्धमान स्वामी के समवशरण में नन्दश्री ने अर्जिका की वृत्ति धारण कर अपनी पर्याय सफल की तथा अन्य कितने ही जीवों को उपदेश देकर संसार से पार किया। धन्य है इस जैन-रमणी-रत्न को, जिसका यश आज तक संसार में छा रहा है !

कहिए, बहिनो ! पूर्वकाल में नन्दश्री इतनी चतुर न होती तो किस तरह अपने पूज्य पिता का संदेह दूर कर श्रेणिक महाराज की प्रिया बनती ? इससे अब सब भ्रम छोड़ कर, स्त्री-समाज को सुशिक्षिता होने में कुछ भी आनाकानी नहीं करनी चाहिए।

स्त्री-समाज में समाचारपत्रों की आवश्यकता।

वर्तमान काल में समाचारपत्रों में कितनी शक्ति भर रही है ? इसके कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष दीखता है, जिन जिन समाजों में जिन जिन बातों का परिवर्तन हुआ है तथा आन्दोलन हो रहा है वह सब समाचारपत्रों की ही महिमा है। भिन्न भिन्न स्थानस्थ हज़ार मनुष्यों को एक मनुष्य प्रति दिन एक एक करके समझावे तो क़रीब पौने तीन वर्ष में समझा सकता है और वही व्यक्ति अपने उपदेश को हज़ार अख़बार की कापियों में लिखकर पोष्ट द्वारा एक साथ चाहे तो हज़ार मनुष्यों को समझा सकता है। अतएव, यह निश्चय है कि उपदेश फैलाने के लिए वर्तमान में समाचारपत्र प्रबल कारण हो रहे हैं। खेद का विषय है कि हमारी स्त्री-समाज में प्रकाश डालनेवाला कोई पत्र नहीं है। पुरुष-संबंधी शिक्षाओं से पूरित कई पत्र निकलते हैं और विशेष

कर पुरुषों के ही लिखे हुए लेख होने के कारण स्त्रियों पर प्रभाव नहीं पड़ता है। यही कारण है कि किसी नवीन बात का आन्दोलन हमारी स्त्री-समाज में नहीं हो रहा है। आज जो हालत हमारी स्त्री-समाज की हो रही है वह सभ्य भगिनी-बन्धुओं से छिपी नहीं है। इस समय देश भर में किसी प्रदेश में परदा के कारण, कहीं विषय-लिप्तता के कारण, कहीं कषायों की अधिकता के कारण, हमारी सारी समाज में सदुपदेश का दिवाला हो रहा है। संसार-संबन्धी जो उपयोगी बातें हैं, जिनका कि सब समाजों में क्रमशः प्रचार हो रहा है, उन बातों की हवा तक हमारी बहिनों के पास नहीं जा सकती। खेद का विषय है कि हमारी आत्मा की अज्ञानावस्था हो रही है। यद्यपि अज्ञानता के मुख्य कारण हमारे किये हुए पुरातन व नवीन कर्म हैं तथापि निमित्त कारण आज कल के सुज्ञ भाई और बहिनें भी हैं, जिन्होंने ऐसे निमित्त मिला रक्खे हैं कि जिनके कारण मूर्खा स्त्रियों में शिक्षा-प्रचारक का कोई मार्ग ही आज तक नहीं खुला है। प्रिय बहिनो! सुज्ञ बन्धुओ! अब इस अपयश को अपने पर से हटाना चाहिए और शिक्षा-प्रचार के साधन समाचार-पत्रों को स्त्री-समाज में बढ़ाना चाहिए।

एक एक प्रान्त में कम से कम, एक पत्र भी उच्च कोटिके लेखों से सुसज्जित होकर खास स्त्रियों के हितार्थ प्रकाशित होना चाहिए। यह पत्र महिला द्वारा प्रकाशित और सम्पादित हो तो अधिक उत्तम है। परन्तु जब तक ऐसा न हो सके तब

तक स्त्री-शिक्षा-प्रेमी भाइयों को ही इसका सम्पादन करना चाहिए।

हमारी बहिनों को भी उचित है कि नित्य प्रति समाचार-पत्रों को पढ़ा करें। यदि हम लोग गुणी जनों के परिश्रम का आदर करने लगेंगी तो अवश्य ही उत्तम पत्र भी प्रकाशित होने लगेंगे।

पत्र और पुस्तकों के पढ़ने में जो समय लगे उसको व्यर्थ न समझना चाहिए। ज्ञान की आराधना में जितना समय व्यतीत होगा वह सब लाभदायक है। कवि का वचन है—

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"।

अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्यों का समय शास्त्र के देखने में ही जाता है।

इसी प्रकार जो द्रव्य इनके ख़रीदने में लगे उसको भी निरर्थक मत समझो। वरन् अपने भोग-विलास की सामग्रियों के मूल्य बचाकर पत्रों के और उत्तम पुस्तकों के लिए व्यय करो।

कन्या-महाविद्यालय।

आवें वीर बाला वीर-बाला-विश्राम में
पाने को उजाला ज्ञान वाला विश्राम में
देवी हों निराली देश कष्टों को टाल दें
माता के गले में मोद-माला ला डाल दें

—वनलता

प्रिय बहिनो ! आज बड़े हर्ष के साथ स्वगत आशा-कुसुमों का एक सामान्य उपहार आपकी सेवा में उपस्थित किया जाता है, आशा है कि आप लोग इन कुसुमों के सहारे फल-प्राप्ति का प्रयत्न भले प्रकार सोच सकेंगी।

इस समय हमें इस बात का बड़ा हर्ष होता है कि हम लोगों का दल दिनोंदिन बढ़ता जाता है।

क्योंकि मनुष्य मात्र का यही विचार रहता है कि समस्त संसारिक आत्माएँ हमारे सदृश ही हो जायँ, यद्यपि ऐसा होना असम्भव है, प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक भिन्न प्रकार के भाव होते हैं।

परन्तु तो भी सब मनुष्य अपनी अपनी तरफ़ खींचातानी में लगे हैं और जिसका दल बढ़ जाता है वही प्रसन्न, मान्य-सुज्ञ-विज्ञ कहलाने लगता है। इसी अवस्था में रह कर बहिनो, आज हम लोग भी आनन्द मनाते हैं और सोई हुई बहिनों को भी इस आनन्दोत्सव में मिलने के लिए बाध्य (मजबूर) करते हैं।

दस वर्ष पहले स्त्रियों को उच्च विद्या पढ़ाना चाहिए—इस ख़यालवाले उँगलियों पर गिनने लायक इने गिने विरले बन्धु थे, परन्तु आज हम देखते हैं कि सैकड़ों बन्धुओं का चित्त इस तरफ़ झुक चुका है। कितने ही बन्धु चाहते हैं कि जगह जगह कन्या-महाविद्यालय खुलने चाहिए। कन्याओं को भी लौकिक पारलौकिक शिक्षा उच्च प्रकार से मिलनी चाहिए।

अब जहाँ तहाँ सभा-सोसाइटियों में भी इस बात का विचार होने लगा है, इसी से समझना चाहिए कि हमारा दल बढ़ता जाता है।

चाहे यह ख़याल जगत् की स्त्री-शिक्षा को देख कर उत्पन्न हुआ हो, चाहे हम लोगों के रोने चिल्लाने की सुनाई की गई हो, चाहे ज़माने का हेर फेर हो; परन्तु इतना अवश्य है कि समाज में स्त्री-शिक्षा की मशीन बनाने का ख़याल तेज़ी से उठ गया है।

प्यारी बहिनो ! हमारे लिए कैसा सुअवसर प्राप्त है। आज बहुत से बन्धुगण हमारे ख़याल से सहमत हैं, हम लोगों को क्यों न शीघ्रता से बृहत् कन्या-महाविद्यालय खोल डालने

चाहिएँ । स्त्रियाँ पति से जेवर बनवाने के लिए कहती हैं, फिर यदि देर हुई तो सोना लाने को कहती हैं । यदि सोना लाने में भी देर हुई तो कहती हैं कि यदि आपकी आज्ञा हो तो हम किसी दूसरे से ही बनवा लें । बस कहीं आज्ञा मिल गई तो फिर क्या है, झट से सुनार बुला कर सब काम खतम कर डालती हैं । इस विचार से कि "कहीं नामंज़ूरी न हो जावे" इसी डर से कल की बजाय आज ही सब काम पूरा कर डालती हैं । बहिनो ! इन्हीं ख़यालों को आज विद्या-प्रेम में परिणत करना चाहिए, मन के भाव फेरने चाहिए, परोपकार में सर्वस्व दे डालना चाहिए । दिन पर दिन भारत में अकाल पड़ते जाते हैं, कहीं प्लेग, कहीं हैज़ा, कहीं डाके, कहीं चोरी इत्यादि इत्यादि विपत्तियों ने भारत को आरत कर डाला है । इस समय सोना न चाहिए, जो कल करना है उसे आज ही कर डालो ।

प्यारी विधवा बहिनो ! क्या अपना सारा धन लड़के गोद ले लेकर बहा देना ही आप लोगों ने इष्ट समझा है ? नहीं नहीं इस समय समस्त स्त्रियों को मिल जुल कर परम मैत्री-भाव से कन्या-महाविद्यालयों के वास्ते तन, मन, धन लगा देना चाहिए । हमारी बहिनें पुत्र पुत्रियों के विवाह में दस दस हज़ार लगा देना सामान्य बात समझती हैं, तो क्या कन्या-महाविद्यालय के लिए दस हज़ार के शेअर नहीं दे सकतीं ! अवश्य दे सकती हैं । हमें समझना चाहिए कि एक पुत्री यह भी है ।

यदि सौ बहिनें पाँच पाँच हज़ार इकट्ठा करदें तथा अपने अपने

पास से देवें तो सहज में ५ लक्ष रुपया विद्यालय के लिए स्थान स्थान पर एकत्रित हो सकता है। यदि एक एक प्रान्त से दो दो बहिनें भी इस कार्य में अपना जीवन दे डालें तो स्त्री-संसार की अविद्या ४-६ वर्ष के अन्दर ही अपना मुँह छिपा कर निकल जाय।

आज जहाँ हम सुनती हैं अध्यापिकाओं के लिए पुकारें पड़ रही हैं। अध्यापिका विदुषी मिलना तो असंभव रहा, परन्तु अक्षराभ्यास कराने योग्य भी नहीं मिलतीं। जब कि न तो कोई उत्तम विद्यालय हो और न अध्यापिकाएँ मिलें तब कहिए कन्याएँ कहाँ से पढ़ लिख सकती हैं। हां कहाँ से ? बहिनें समझती हैं कि पुत्रों का काम पढ़ना और कन्याओं का काम गुड़िया खेलना व सास के घर जा नन्हें नन्हें हाथ पैरों में जेवर पहन कर इधर से उधर मारी मारी फिरना है। बहिनो ! यह हमारी भूल है—बड़ी भारी मूर्खता है। इसी ख़याल ने हमारे यहाँ से धर्म उठा दिया, सत्पात्र-दान उठा दिया, बड़ों की आज्ञा का पालन उठा दिया। कहाँ तक कहा जाय एक एक घर में दस दस चूल्हे करा कर महा भयंकर फूट को घुसा लिया है। ये सब ख़राबियाँ कन्याओं को अनपढ़ रखने से ही हुई हैं। अतएव हम लोगों को निद्रा भंग कर बृहत् विद्यालय खोल कन्याओं को सुशिक्षिता बनाना चाहिए—उनको जीवन-काल का पथ दिखलाना चाहिए, जिससे वे सुमार्ग पर चल कर स्वपर-कल्याण भलीभाँति कर सकें।

वर्तमान की छोटी छोटी कन्याशालाओं से यह क्षति पूरी नहीं हो सकती—इन पाठशालाओं में न इतनी हिन्दी पढ़ाई जाती है जिससे पुत्रियाँ ग्रन्थों का स्वाध्याय करके अर्थ समझ सकें, न हिसाब किताब या और किसी प्रकार का कला-कौशल ही उचित रीति से बताया जाता है जिसका प्रतिफल कालान्तर में कुछ लाभदायक हो। केवल गलत सलत अक्षराभ्यास कराया जाता है जिसको घर बैठने पर कुछ दिनों में ही कन्याएँ भूल जाती हैं।

संस्कृत या अँगरेज़ी का तो किसी पाठशाला में नाम ही नहीं है। इसी का यह परिणाम है कि स्त्री-समाज ज्ञानहीन, निपढ़ और कर्तव्यमूढ़ हो गई है।

समाज में एक एक प्रान्त में एक एक विद्यालय ऐसा होना चाहिए जिसमें कम से कम ४ लक्ष की पूँजी हो। जिसके व्याज से अच्छे अच्छे अध्यापक अध्यापिकाएँ रक्खी जायँ।

कम से कम १० वीं क्लास तक की हिन्दी और अँगरेज़ी की पढ़ाई हो।

कम से कम मध्यमा तक संस्कृत-व्याकरण की पढ़ाई हो।

साहित्य में तीर्थ या शास्त्री तक का प्रबन्ध हो। इसके अतिरिक्त पाक-विधि, रोग-चिकित्सा, सीना-पिरोना इन सब बातों के लिए भी पृथक् पृथक् क्लासें हों।

धार्मिक ग्रन्थों का क्रम इसी पाठक्रम में इस प्रकार रक्खा

जाय जिसमें छः ढाला, तत्वार्थसूत्र से लेकर ऊँची कक्षाओं में उच्च कोटि के ग्रन्थ पढ़ायें जायँ।

प्रत्येक विद्यालय के साथ दो छात्राश्रम हों—एक कुमारी और सधवाओं के लिए; दूसरा विधवाओं के लिए।

दोनों के नियम योग्य रीति से प्रतिपादन किये जायँ। विद्यालय का स्थान स्वच्छ जल वायुवाली जगह में हो। जब इस प्रकार के विद्यालय होंगे तभी स्त्री-जाति का अज्ञान हट सकता है।

यद्यपि इस विषय में रुपये का प्रश्न बड़ा प्रबल उपस्थित होता है, परन्तु विचार और उत्साह के सामने यह कुछ नहीं है। एक बार समाज के हृदय में आने की देर है। चन्दा अनेक प्रकार से हो सकता है। प्रत्येक पञ्चायत विवाह पर २) रु० का टैक्स रख दे,प्रत्येक दूकान पर आमद के हिसाब से कुछ कर लगा दिया जाय। कुछ ऊँची क्लासों में फ़ीस से वसूल कर लिया जाय, कुछ द्रव्य जाति के मुखिया भाई अपनी अपनी वक्तृता और ओजस्विनी लेखनी से एकत्रित कर दें तो सहज में एक विद्यालय का धन इकट्ठा हो सकता है।

यदि विद्याप्रेम हो तो अनेक नर नारी बिना वेतन के सेवा करनेवाले भी मिल सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि सत्य हृदय से प्रत्येक पढ़े लिखे मनुष्य पुत्रियों के हितार्थ ज्ञान दान देने का दृढ़ संकल्प कर ले तो अवश्य संस्थाएँ खुल सकती हैं।

कन्या-महाविद्यालय का उद्देश्य और आदर्श इस प्रकार होना चाहिए:—

(१) अपनी भगिनियों और पुत्रियों को हिन्दी के माध्यम द्वारा संस्कृत और अन्य उपयोगी विषयों की उच्च शिक्षा प्रदान करना। उन्हें नैतिक एवं धार्म्मिक-जीवन का अभ्यास कराना और गृह-कार्य्यों में निपुण कर के आदर्श माताएँ और सुयोग्य पत्नियाँ बनाने का प्रयत्न करना।

(२) अपनी विधवा बहिनों को सेवाधर्म में अपना धार्म्मिक और पवित्र जीवन अर्पण करने के लिए सुविधाएँ प्रदान करना।

(३) स्त्री-शिक्षा के निमित्त उत्तम साहित्य का निर्माण एवं प्रकाश करना और उपदेशिकाएँ भेजकर इस कार्य की उन्नति के लिए उद्योग करना।

महात्मा गाँधी और विधवा बहनें।

ता० १६ मई १९२० के "नव-जीवन" में महात्मा गांधी लिखते हैं "वैधव्य हिन्दू धर्म की शोभा है। अखंडित पातिव्रत का अर्थ तो यही हो सकता है कि जिसने एक समय ज्ञानपूर्वक जिसको पति जाना हो उसका ही मरण तक स्मरण रखकर संतोष करना। इतना ही नहीं किन्तु उसके स्मरण में आनन्द मनाना। इसी तरह हिन्दुस्तान में हज़ारों विधवाएँ आचरण करके प्रातः स्मरणीय बनी हैं। थोड़ा समय हुआ जब मैं गंगा-स्वरूप रमाबाई रानडे से मिलने गया था। मैंने उनके दर्शन उनके कमरे में ही किये। इस कमरे में एक मुख्य स्थान पर मैंने एक कुरसी देखी। उसके ऊपर न्यायमूर्ति स्वर्गवासी रानडे की तसवीर देखी। मैं समझ तो गया पर बराबर समझ न होने से मैंने पूछा, "वह छवि कुरसी पर क्यों रक्खी है ?" रमाबाई ने कहा, "यह कुरसी इन्हीं की है। इसी के ऊपर ये रोज़ विराजते थे—इसी पर मैं उनकी छवि रखती हूँ और उसी की छाया के नीचे मैं सदा रहती तथा सोती हूँ," इन पवित्र शब्दों को सुनकर मैं आनंद में ग़र्क हो गया और वैधव्य की शोभा अधिक समझा। ऐसी पतिव्रता रमाबाई भारत में जगह जगह हैं। यह मैं जानता हूँ। परंतु पत्नीव्रत पुरुष कहाँ हैं ? पांच वर्ष से मैं भारत के जीवन का अनुभव कर

रहा हूँ। सामान्य रीति के चरित्रवान नवयुवक अपनी स्त्री के ऊपर अच्छी प्रीति रखते हैं। मैंने एक नवयुवक पुरुष को स्त्री के मर जाने पर तुरंत ही सगाई और विवाह करते हुए देखा है। मैं अत्यन्त खेद प्रकट करता हूँ यह देख कर कि श्मशान में गया हुआ पुरुष अभी घर भी लौटा नहीं है, उसके पहले ही वह दूसरी स्त्री विवाहने का विचार कर सकता है। यह विचार अपने को घबड़ाहट पैदा करनेवाला होना चाहिए परन्तु इसके बदले में माता अपने स्त्री-रहित पुत्र को शीघ्र विवाहना चाहती है। सास भी अपने जमाई को विवाह करने के लिए उत्तेजना देती है और जमाई इस उत्तेजना को पाकर ज़रा भी शरमाता नहीं। इस पुरुष के रोने का मतलब ही क्या? यह पुरुष अपनी मरी हुई स्त्री की याद के लिए अनेक उपाय करे पर उसकी क़ीमत क्या? अथवा नई स्त्री की क़ीमत ही कितनी। ऐसा जीवन कैसा गिना जा सकता है? मैं तो इसे अधर्म ही की दृष्टि से देखता हूँ और जहाँ तक पुरुष-वर्ग इतनी उद्धताई करने को तैयार है वहाँ तक वैधव्य की प्रशंसा दंभमात्र है।

जिस स्त्री के साथ पुरुष ने कितने वर्ष तक मैत्री रक्खी है, जिसके दुःख से दुःखी हुआ है, जिसके सुख में भाग लिया, जिसके साथ भोग-विलास किया है, जिसके साथ २४ घंटे रह चुका है, उस स्त्री के मरते हुए क्या पुरुष को उतना भी शोक न करना चाहिए जो सामान्य मित्र के वियोग से होता है? इँग्लेंड में भी, जहा विधवा को पुनर्विवाह करने की छूट है, लोकलज्जा के वश होकर ही, कुलीन स्त्रियाँ द्वितीय पुरुष का संग, एक वर्ष तक, करने की हिम्मत नहीं रखतीं। परन्तु हिन्दुस्तान के पुरुषों की कुलीनता अधिकतर श्मशान की हद से बाहर नहीं होती। कभी कभी तो जब स्त्री की देह भस्म होती रहती है तब ही नये विवाह की बात छिड़ जाती है। उस पुरुष को सुनने में शर्म नहीं आती। इस दयाजनक स्थिति में से भारत को निकालना आवश्यक है। विधवा-विवाह के आन्दोलन में भी मैं पुरुष की स्वार्थपरायणता देखता हूँ। विधवा-वरण कर पुरुष अपनी

शर्म भूलना चाहता है । जो विधवा के वैधव्य का दुःख पुरुष मानता हो तो स्वयं अखंड पत्नी-व्रत पालकर उसका दुःख भुला सकता है । इस विषय में लोकमत इतना अधिक क्षीण हो गया है कि जिससे सुशिक्षित कुटुम्ब के पुरुषों को भी एक स्त्री के मरते तुरन्त द्वितीय विवाह करते लज्जा नहीं आती । यह बात मैंने हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ देखी है । परंतु पुरुष अपनी फ़र्ज़ बजावें या न बजावें, स्त्रियाँ अपना हक़ क्यों न सिद्ध करें । स्त्रियों को मताधिकार ज़रूर मिलना चाहिए, पर जो स्त्रियाँ अपना सामान्य हक़ समझती नहीं हैं अथवा समझती हुई उन हक़ों को पाने की शक्ति नहीं रखतीं वे फिर मताधिकार को लेकर क्या करेंगी ? स्त्रियाँ मताधिकार भले ही पावें, भले ही हिन्दुस्तानी धारा सभा में जायँ, पर स्त्रियों की पहली फ़र्ज़ पुरुषों की तरफ़ से, जानते वा अजानते होनेवाले अत्याचारों से बचना भारत को शोभावान व कार्यवान बनाना है । जब अज्ञानी मा अपनी अज्ञानी लड़की को तुरन्त स्त्री से वियोग पाये हुए पुरुष विषयाग्नि में होम देने को तय्यार है तब ऐसे पुरुष-वियोग के दुःख के आँसू सूखने के पहले परिणयन का विचार कर सकते हैं। मेरी तो यह मान्यता है कि इस प्रकार का सुधार करना स्त्रियों का हक़ है। इतना ही नहीं किन्तु स्त्रियों का फ़र्ज़ है- अपने लिए, पुरुष के लिए और भारत के लिए सत्यधर्म का पालन करना ।"

महात्मा गाँधीजी की सर्व-जनमान्य यह सम्मति हमारी विधवा बहिनों के शोक में शान्तिप्रद होगी, ऐसी आशा से उद्धृत कर दी गई है ।

अशिक्षा की फल-स्वरूपिणी झगड़ालू सास ।

यद्यपि वधू सदन कार्यों को थी सानन्द किया करती
अवसर टीका टिप्पणियों के थी न कदापि दिया करती
प्रतिदिन जग के बड़े सवेरे थी वह नहा लिया करती
चौका बर्तन और रसोई थी विध साथ किया करती

सास जिठानी चरण दबाने भी अवसर से थी जाती
करती थी तत्काल जिसे थी करने की आज्ञा पाती
तो भी सास उसे देती थी तरह तरह के कष्ट कड़े
उसके पीड़न हित करती थी वह दिन रात प्रयत्न बड़े

पाती थी झगड़ा करने में वह आनन्द सदैव बड़ा
बनती थी अत्यन्त विकल जब होता था न कभी झगड़ा
झगड़े नये उठाने में ही वह दिन रात बिताती थी
शान्ति-विनाशन की चाहों में आप मरी वह जाती थी

झगड़ा ही उसका खाना था झगड़ा था उसका पीना
झगड़े के मारुत-मण्डल में उसका होता था जीना

रोगों से चंगी होती थी जब थी झगड़ा कर पाती
झगड़े के बिन बे-चैनी से वह थी कृश-तन हो जाती

झगड़े की ही चिन्ता में वह सोती जगती रहती थी
बैठी लेटी झगड़े की ही धारा में वह बहती थी
रँगी रंग में झगड़े के थी झगड़ा उसका प्यारा था
उसके मुख-दर्शन बिन उसका दुखमय जीवन सारा था

झगड़ा आँखों का तारा था परम दुलारा था झगड़ा
वह गोपी थी और रँगीला मोहन प्यारा था झगड़ा
उसकी झपटों में जो पड़ता वह कम्पित होता मन में
सिंहिनि सी आखेट-रता वह रहती थी गृह-कानन में

—गिरीश-कृत **रसाल-वन** से उद्धृत।

प्रकाशक
कुमार देवेन्द्रप्रसाद
प्रेममन्दिर, आरा

अयि वेदना विगलित वदनि,
भारत-जननि ! रोओ नहीं।
विकराल विपद विलोक के,
माता विकल होओ नहीं।
आराधनार्थ त्वदीय पद,
गृहलक्ष्मियाँ आने लगीं।
अब गान 'वन्दे मातरम्' का,
रामा भी गाने लगीं।
त्रिशूल

मुद्रक
श्री अपूर्वकृष्ण बोस,
इंडियन प्रेस लिमिटेड,
प्रयाग।